# अनेकान्त

अगस्त १९५४

सम्पादक-मण्डल
श्री जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
बा० छोटेलाल जैन
बा० जयभगवान जैन एडवोकेट
पं० परमानन्द शास्त्री

अनेकान्त वर्ष १३
किरण २

## विषय-सूची

१ समन्तभद्रभारती—देवागम—[ युगवीर ३३
२ मद्रास और मयिलापुरका जैन-पुरातत्व—[ छोटेलाल जैन ३५
३ श्री नेमिनाथाष्टक ( स्तोत्र )— ४१
४ हिंसक और अहिंसक ( कविता )—[ मुन्नालाल 'मणि' ४२
५ सत्यवचन माहात्म्य ( कविता )—[ मुन्नालाल 'मणि' ४२
६ निसीहिया या नशियाँ—[ पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री ४३
७ तीर्थ और तीर्थकर [ पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री ४८
८ राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारोंमें उपलब्ध महत्वपूर्ण-साहित्य
[ कस्तूरचन्दजी एम० ए० ४९
९ सिंह-श्वान-समीक्षा—[ पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री ५१
१० ग्रन्थोंकी खोजके लिये ६००) रुपयेके छह पुरस्कार
—[ जुगलकिशोर मुख्तार ५५
११ वीरसेवामन्दिरको प्राप्त सहायता ५६
१२ सकाम-धर्मसाधन—[ जुगलकिशोर मुख्तार ५७
१३ सखि ! पर्वराज पर्यूषण आयं (कविता)—[ मनु 'ज्ञानार्थी' ६१
१४ सम्पादकीय ६२
१५ वीरसेवामन्दरको स्वीकृत सहायता ६३
१६ साहित्य परिचय और समालोचन —[ परमानन्द जैन ६४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

## उत्तम शास्त्रदानका सुन्दर योग
# आप्त परीक्षाकी लूट !!

आप्तपरीक्षा ९वीं शताब्दीके विद्वान श्री विद्यानन्दाचार्यकी स्योपज्ञ टीकासे युक्त अपूर्व कृति है आप्तोंकी परीक्षा-द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस एवं सजीव विवेचनको लिये हुए है, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालके हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त है और पहली बार 'वीरसेवामन्दिर'से प्रकाशित हुई है जिसका लागत मूल्य ८) रुपया है। हम चाहते हैं कि इस तत्वज्ञानपूर्ण महत्वके ग्रन्थका घर-घरमें प्रचार हो, कोई भी लायब्रेरी इससे खाली न रहे और यह अजैन विद्वानोंको भी खास तौरसे पढ़नेके लिये दिया जाय। क्योंकि यह उनकी श्रद्धाको बदलकर अपने अनुकूल करनेमें बहुत कुछ समर्थ है। अतः प्रचारकी दृष्टिसे हालमें यह योजना की गई है कि जो श्रुतभक्तिपरायण परोपकारी सज्जन दो प्रतियोंका मूल्य १६) रु० भेजेंगे उन्हें उतने ही मूल्यमें तीन प्रतियाँ दी जावेंगी, जिनमेंसे एक प्रति वे अपने लिये रखें और शेष दो प्रतियाँ किसी मन्दिर, लायब्रेरी या अजैन विद्वानको अपनी ओरसे भेंट कर देवें और इस तरह सत्साहित्यके प्रचार एवं शास्त्रदानमें अपना सहयोग प्रदान करें। जो महानुभाव शास्त्रदानकी इच्छासे २० प्रति एक साथ खरीदेंगे उन्हें वे प्रतियाँ १६०) की जगह १००) रु० में ही दी जावेंगी। आशा है सत्साहित्यके प्रचारमें अपना सहयोग देनेके लिये उद्यमशील एवं शास्त्रदानके इच्छुक सज्जन शीघ्र ही अपना आर्डर भेजकर इस योजनासे लाभ उठाएँगे और इस तरह 'वीरसेवामन्दिरके' दूसरे महत्वपूर्ण ग्रन्थोंको अविलम्ब प्रकाशित करनेके लिये प्रोत्साहित करेंगे।

मैनेजर वीरसेवामन्दिर ग्रन्थमाला
१ दरियागंज, देहली

# अनेकान्तके ग्राहकोंको भारी लाभ

अनेकान्तके पाठकोंके लाभार्थ हालमें यह योजना की गई है कि इस पत्रके जो भी ग्राहक, चाहे वे नये हों या पुराने, पत्रका वार्षिक चन्दा ६) रु० निम्न पते पर मनोआर्डरसे पेशगी भेजेंगे वे १०) रु० मूल्यके नीचे लिखे ६ उपयोगी ग्रन्थों को या उनमेंसे चाहें जिनको, वीरसेवामन्दिरसे अर्ध मूल्यमें प्राप्त कर सकेंगे और इस तरह 'अनेकान्त' मासिक उन्हें १) रु० मूल्यमें ही वर्ष भर तक पढ़ने को मिल सकेगा। यह रियायत सितम्बरके अन्त तक रहेगी अतः ग्राहकोंको शीघ्र ही इस योजनासे लाभ उठाना चाहिये। ग्रन्थोंका परिचय इस प्रकार है:—

१. **रत्नकरण्डश्रावकाचारसटीक**—पं० सदासुखजीकी प्रसिद्ध हिन्दीटीकासे युक्त, बड़ा साइज, मोटा टाइप, पृ० ४२४, सजिल्द मूल्य ... ... ... ५)
२. **स्तुतिविद्या**—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंको जीतनेकी कला, सटीक, हिन्दी टीकासे युक्त और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी महत्वकी स्तावनासे अलंकृत, पृ० २०२ सजिल्द १॥)
३. **अध्यात्मकमलमार्तण्ड**—पंचाध्यायीके कर्ता कविराजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी अनुवाद सहित और मुख्तार श्री जुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठ की प्रस्तावनासे भूषित, पृष्ठ २००, ... ... ... ... १॥)
४. **श्रवणबेल्गोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ**—जैनतीर्थोंका सुन्दर परिचय अनेक चित्रों सहित पृष्ठ १२० ... ... ... ... १)
५. **श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र**—आचार्य विद्यानन्दकी तत्वज्ञानपूर्ण सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि सहित, पृष्ठ १२५ ... ... ... ... ॥।)
६. **अनेकान्त रस-लहरी**—अनेकान्त जैसे गूढ़गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझाने की कुञ्जी ... ... ... ... ।)

मैनेजर 'अनेकान्त'
**वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज देहली।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरण का मूल्य ।)

वर्ष १३ किरण २ | वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली
भाद्रपद वीर नि० संवत् २४८०, वि० संवत् २०११ | अगस्त १९५४

# समन्तभद्र-भारती

## देवागम

**स त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक् । अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥**

'(हे वीर जिन !) वह निर्दोष—अज्ञान तथा रागादि दोषोंसे रहित वीतराग और सर्वज्ञ-आप ही हैं; क्योंकि आप युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक् हैं—आपका वचन (किसी भी तत्त्व-विषयमें) युक्ति और शास्त्रके विरोधको लिये हुए नहीं है। और यह अविरोध इस तरहसे लक्षित होता है कि आपका जो इष्ट है—मोक्षादितत्त्वरूप अभिमतअनेकान्तशासन है—वह प्रसिद्धसे—प्रमाणसे अथवा पर-प्रसिद्ध एकान्तसे—बाधित नहीं है; जब कि दूसरोंका (कपिल-सुगतादिकका) जो सर्वथा नित्यवाद-अनित्यवादादिरूपएकान्त अभिमत (इष्ट) है वह प्रत्यक्षप्रमाणसे ही नहीं किन्तु पर-प्रसिद्ध अनेकान्तसे भी बाधित है और इसलिए उन सर्वथा एकान्तमतोंके नायकोंमेंसे कोई भी युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक् न होनेसे निर्दोष एवं सर्वज्ञ नहीं है।'

**त्वन्मताऽमृत-बाह्यानां सर्वथैकान्त-वादिनाम् । आप्ताऽभिमान-दग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥**

'जो लोग आपके मतरूपी अमृतसे—अनेकान्तात्मक-वस्तु-तत्त्वके प्रतिपादक आगम (शासन) से, जो कि दुःखनिवृत्ति-लक्षण परमानन्दमय मुक्ति-सुखका निमित्त होनेसे अमृतरूप है—बाह्य हैं—उसे न मान कर उससे द्वेष रखते हैं— 'सर्वथा एकांतवादी हैं—स्वरूप-पररूप तथा विधि-निषेधरूप सभी प्रकारोंसे एक ही धर्म नित्यत्वादिको मानने एवं प्रतिपादन करनेवाले हैं—और आप्ताऽभिमानसे दग्ध हैं—वस्तुतः आप्त-सर्वज्ञ न होते हुए भी 'हम आप्त हैं' इस अहंकारसे भुने हुए अथवा जले हुएके समान हैं, उनका जो अपना इष्ट है—सर्वथा एकान्तात्मक अभिमत है—वह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है—प्रत्यक्षमें कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य या अनित्यरूप, सर्वथा एक या अनेकरूप, सर्वथा भाव या अभावरूप इत्यादि नज़र नहीं आती—अथवा यों कहिये कि प्रत्यक्ष-सिद्ध अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्वके साथ साक्षात् विरोधको लिये हुए होनेके कारण अमान्य है।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

**कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् । एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ स्व-पर-वैरिषु ॥८॥**

'जो लोग एकांतके ग्रहण-स्वीकरणमें आसक्त हैं, अथवा एकांतरूप ग्रहके वशीभूत हुए उसीके रंगमें रंगे हैं—सर्वथा एकान्त पक्षके पक्षपाती एवं भक्त बने हुए हैं और अनेकान्तको नहीं मानते, वस्तुमें अनेक गुण-धर्मों (अन्तों) के होते हुए भी उसे एक ही गुण धर्म (अन्त) रूप अंगीकार करते हैं—(और इसीसे) जो स्व-परके बैरी हैं—दूसरोंके सिद्धान्तोंका विरोध कर उन्हींके शत्रु नहीं, किन्तु अपने एक सिद्धान्तसे अपने दूसरे सिद्धान्तोंका विरोध कर और इस तरह अपने किसी भी सिद्धान्तको प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ न होकर अपने भी शत्रु बने हुए हैं—उनमेंसे प्रायः किसीके भी यहां अथवा किसीके भी मतमें, हे वीर भगवान् ! न तो कोई शुभ कर्म बनता है, न अशुभ कर्म, न परलोक (अन्य जन्म बनता है और (चकारसे) यह लोक (जन्म) भी नहीं बनता, शुभ-अशुभ कर्मोंका फल भी नहीं बनता और न बन्ध तथा मोक्ष ही बनते हैं—किसी भी तत्त्व अथवा पदार्थकी सम्यक् व्यवस्था नहीं बैठती। और इस तरह उनका मत प्रत्यक्षसे ही बाधित नहीं, बल्कि अपने इष्टसे अपने इष्टका भी बाधक है।'

**भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् । सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥**

'( हे वीर भगवन् ! ) यदि पदार्थोंके भाव (अस्तित्व) का एकान्त माना जाय—यह कहा जाय कि सब पदार्थ सर्वथा सत् रूप ही हैं, असत् (नास्तित्व) रूप कभी कोई पदार्थ नहीं है—तो इससे अभाव पदार्थोंका—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावरूप वस्तु-धर्मोंका—लोप ठहरता है, और इन वस्तु-धर्मोंका लोप करनेसे वस्तुतत्त्व (सर्वथा) अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और अस्वरूप हो जाता है, जो कि आपको इष्ट नहीं है—प्रत्यक्षादिके विरुद्ध होनेसे आपका मत नहीं है।'

( किस अभावका लोप करनेसे क्या हो जाता अथवा क्या दोष आता है, उसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है:— )

**कार्य-द्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निन्हवे । प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०॥**

'प्रागभावका यदि लोप किया जाय—कार्यरूप द्रव्यका अपने उत्पादसे पहले उस कार्यरूपमें अभाव था इस बातको न माना जाय—तो वह कार्यरूप द्रव्य—घटादिक अथवा शब्दादिक—अनादि ठहरता है—और अनादि वह है नहीं, एक समय उत्पन्न हुआ यह बात प्रत्यक्ष है। यदि प्रध्वंस धर्मका लोप किया जाय—कार्यद्रव्यमें अपने उस कार्यरूपसे विनाशकी शक्ति है और इसलिए वह बादको किसी समय प्रध्वंसाभावरूप भी होता है, इस बातको यदि न माना जाय—तो वह कार्यरूप द्रव्य—घटादिक अथवा शब्दादिक—अनन्तता—अविनाशताको प्राप्त होता है—और अविनाशी वह है नहीं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, प्रत्यक्षमें घटादिक तथा शब्दादिक कार्योंका विनाश होते देखा जाता है। अतः प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका लोप करके कार्यद्रव्यको उत्पत्ति और विनाश-विहीन सदासे एक ही रूपमें स्थिर (सर्वथा नित्य) मानना प्रत्यक्ष-विरोधके दोषसे दूषित है और इसलिए प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभावका लोप किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जा सकता। इन अभावोंको मानना ही होगा।'

**सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्याऽपोह-व्यतिक्रमे । अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥**

'यदि अन्याऽपोहका—अन्योन्याभावरूप पदार्थका—व्यतिक्रम किया जाय—वस्तुके एक रूपका दूसरे रूपमें अथवा एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें अभाव है इस बातको न माना जाय—तो वह प्रवादियोंका विवक्षित अपना-अपना इष्ट एक तत्त्व (अनिष्टात्माओंका भी उसमें सद्भाव होनेसे) अभेदरूप सर्वात्मक ठहरता है—और इसलिए उसकी अलगसे कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। और यदि अत्यन्ताभावकासमलोप किया जाय—एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें सर्वथा अभाव है इसको न माना जाय—तो एक द्रव्यका दूसरेमें समवाय-सम्बन्ध (तादात्म्य) स्वीकृत होता है और ऐसा होने पर यह चेतन है, यह अचेतन है इत्यादि रूपसे उस एक तत्त्वका सर्वथा भेदरूपसे कोई व्यपदेश कथन) नहीं बन सकता।' —युगवीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

# मद्रास और मयिलापुरका जैन-पुरातत्त्व

( छोटेलाल जैन )

अभी जब मूडबिद्रीकी सिद्धान्तवसतिमें सुरक्षित आगम ग्रन्थ ( धवलादि ) की एक मात्र प्रतियोंके फोटो प्राप्त करने के उद्देश्यसे दक्षिणकी यात्रा करनी पड़ी थी, वहां का कार्य समाप्त कर मैं 'सितन्नवासल' सिद्धक्षेत्रके फोटो लेता हुआ मद्रास गया था। वहां 'दक्षिणके जैनशिलालेखोंका संग्रह' नामका एक ग्रन्थ, जो कई वर्षोंसे वीरशासनसंघके लिए तैयार कराया जा रहा था, उसको शीघ्र पूर्ण करानेके लिये मुझे वहां प्रायः एक मास ठहर जाना पड़ा। इस दीर्घ समयका उपयोग मैंने मद्रास और उसके निकटवर्ती स्थानोंके जैन पुरातत्त्वका अनुसन्धान करनेमें किया। उसीके फलस्वरूप जो किंचित् इतिहास मद्रासका मैं प्राप्त कर सका उसे आज पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

मद्रास नगरका इतिहास मात्र तीन शताब्दी जीवन-कालके क्रमिक विकास ( वृद्धि ) का है। वर्तमानका विस्तीर्ण यह नगर, जो सन् १६३९ में स्थापित हुआ था, अंग्रेजोंके आगमनके सैकड़ों वर्ष पूर्व विभिन्न छितरे हुए ग्रामोंके रूपमें था, 'मद्रास' शब्दकी उत्पत्ति इन्हीं ग्रामोंमें एक ग्रामके नामसे हुई है जो 'मद्रासपटम्' कहलाता था, और जो 'चीनपटम्' ( वर्तमानका फोर्ट सेंट जार्ज दुर्ग ) के निकट उत्तरकी ओर तथा सैनथामी' (मयिलापुर) के उत्तर तीन मील पर था। यह नगर बंगोपसागरके तट पर अवस्थित है और उपकूलके साथ साथ ९ मील लम्बा तथा तीन मील चौड़ा है, जिसका क्षेत्रफल प्रायः ३० वर्ग मील है। इसको संस्थिति समुद्र-तल ( Sea-level ) के बराबर है और इसका सर्वोच्च प्रदेश समुद्रतटसे कुल २२ फीट ऊँचा है।

किन्तु इसके चारों ओरके प्रदेशोंका अतीत गौरव और ऐतिहासिक गुरुत्व तथा इसके कुछ भागों (जैसे ट्रिप्लिकेन, मयिलापुर और तिरुभोट्टियूर) और पल्लवरम् जैसे उप-नगरोंने भूतकालमें जो महत्त्व प्राप्त किया था वह वास्तवमें अत्यन्त चित्ताकर्षक है। मद्रासके निकटके अंचलोंमें अनेक प्रागैतिहासिक अवशेष, प्रस्तरयुगकी समाधियाँ, प्रस्तरनिर्मित शवाधार (कब्रें) और पत्थरकी चक्रियाँ और अन्य पुरातत्त्वकी सामग्री प्राप्त हुई है, जो इतिहास और मानव-विज्ञानके अनुसन्धाताओंके लिए बहुत ही उपयोगी है।

ऐतिहासिक कालका विचार करने पर हम देखते हैं कि इसके निकटके कई अंचल और आस-पासके अनेक ग्राम एक समय संस्कृति और धर्मोंके केन्द्र रह चुके हैं।

## कुरुम्ब-जाति

कर्नल मेकेन्जीने हस्तलिखित ग्रन्थों और लेखोंका बहुत बड़ा संग्रह किया था, जो अब मद्रासके राजकीय पुस्तकालयमें सुरक्षित है। इनका परिचय और विवरण टेलर साहबने सन् १८६२ में 'केटेलोगरिशोने आफ़ ओरियन्टल मान्युस्क्रप्ट्स इन दि गवर्न्मेंट लायब्रेरी' नामक वृहद् ग्रन्थमें प्रकाशित किया था। इनमें दक्षिण भारतके इतिहासकी प्रचुर सामग्री है। कुरुम्ब जातिके सम्बन्धमें भी अनेक विवरण इसमें उप-लब्ध हैं, उन्हींके आधारसे हम यहां कुछ लिख रहे हैं:—

कुरुम्ब-जातिके लोग भारतके अति प्राचीन अधिवासी हैं और वे अपनी द्रविड़ जातीय वल्लवोंसे भी पूर्व यहां बसे हुए थे। किन्तु परवर्ती कालमें ये दोनों जातियाँ परस्पर मिश्रित हो गईं थीं।

भारतीय इतिहासमें कुरुम्बोंने उल्लेखनीय कार्य किये हैं। अति प्रसिद्ध 'टोन्डमण्डलम्' प्रदेशका नाम, जिसकी राजधानी एक समय कांचीपुरम् थी, 'कुरुम्ब-भूमि' या 'कुरुम्बनाडु' था। सर वाल्टर ईलियट् (सहायकग्रन्थ १,४) के अभिमतसे तो 'द्राविड़ देशके बहुभागका नाम कुरुम्ब भूमि था और जिसका विस्तार कोरोमण्डलसे मलाबार उपकूल तक इस सम्पूर्ण प्रायोद्वीपके किनारे तक था। इस प्रदेशके पूर्व भागका नाम 'टोण्डमण्डलम्' तो तब पड़ा था जबकि चोलोंने इसे विजित किया था। इनके अभिमतसे चोलवंशके नृपति करिकालने कुरुम्बोंको जीता था। इस प्रान्तका चौवीस जिलों ( कोट्टम् ) में विभाजनका श्रेय कुरुम्बों को है।"

गस्टव आपर्ट ( स० ग्र० २ ) साहबने इनकी व्युत्पत्ति, को (कु) = पर्वत शब्दके वर्धित रूप 'कुरु' से की है। अस्तु, कुरुव या कुरुम्बका अर्थ होता है पर्वतवासी।

मूलतः ये यादववंशी थे जिन्होंने कौरव पाण्डव (महा-भारत ) युद्धमें भाग लिया था। तत्पश्चात् इनके वंशधर विभिन्न क्षेत्रोंमें तितर-बितर हो गए थे। अति प्राचीन कालसे ये जैनधर्मानुयायी थे। किसी समय कर्नाट देशसे इन लोगोंने द्राविड देशमें 'टोण्डमण्डलम्' तक विस्तार किया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

था (ये फैले थे) उस समय ये स्वतन्त्र थे। जब इनमें परस्पर मतभेद और द्वन्द होने लगे तब इन्होंने यह उचित समझा कि किसी प्रधानका निर्वाचन कर लिया जाय, जो उनमें ऐक्य स्थापित कर सके। अतः अपनेमें से एक बुद्धिमान नेताको उन्होंने कुरुम्ब-भूमिका राजा मनोनीत किया, जो कमण्ड कुरुम्ब-प्रभु या पुलल राजा कहलाने लगा।

कुरुम्ब-भूमि ( जो टोण्डमण्डलम्के नामसे प्रसिद्ध है ) प्रदेशमें वह क्षेत्र सम्मिलित है, जो नेल्लोरमें प्रवाहित नदी पेन्नार और दक्षिण आरकटकी नदी पेन्नारके मध्यकी भूमिका है। उस कुरुम्ब प्रभुने अपने राज्यको चौवीस कोट्टम् या जिलोंमें विभाजित किया, जिनमें प्रत्येकके मध्य एक-एक दुर्ग था और जो एक-एक राज्यपालके अधिकारमें था। इन कोट्टम् ( जिलों ) में ७६ नाडु या ताल्लुके ( Taluks ) बनाए गए। एक-एक जिलेमें एकसे पांच तक नाडु थे। नाडुओंके भी नागरिक विभाग किये गए, जिनकी कुल संख्या एक हजार नौ सौ थी। कुरुम्ब प्रभुने 'पुरलूर' (पुलल या पुज्हलूरदुर्ग) को अपनी राजधानी बनाई। मदरासपटम् ग्राम (आधुनिक मद्रास) और अनेक अन्य ग्राम इसी कोट्टम् या जिलेमें थे।

उपरोक्त कोट्टम् या जिलोंमेंसे कुछके नाम ये हैं:— पुरलूर (राजकीय दुर्ग,) कल्लटूर, आयूर, पुलियूर, चेम्बूर, उत्रीकाडु, कलियम्, वेनगुन, इकथूकोट्टै, पडुवूर, पट्टिपुलम्, सालकुपम्, सालपाकम्, मेयूर, कडलूर, अलंपरि, मरकानम् इत्यादि।

उस समय देश-विदेशके वाणिज्य पर विशेष ध्यान दिया गया और विशेषकर पोतायन (जहाजों) द्वारा व्यवसायकी अभिवृद्धि बहुत की गई, जिससे कुरुम्ब अति समृद्धिशाली हो गए।

पुरलूर राजनगरीमें एक दि० जैन मुनिके पधारने और उनके द्वारा धर्मप्रचार करनेकी स्मृतिमें एक जैन वसति ( मंदिर ) उन कुरुम्बप्रभुने वहाँ बनवाई थी। सन् १८६० के लगभग टेलर साहबने ( ग्रन्थ ३ ) पुरलूरमें जाकर इस प्राचीन वसति और कई मन्दिरोंके भग्नावशेष देखे थे। उन्होंने लिखा है कि समय-समय पर अब भी जैनमूर्तियाँ धानके खेतोंसे उपलब्ध होती रहती हैं किन्तु जैनोंके विपक्षी हिन्दू या तो उन्हें नष्ट कर देते हैं या उन्हें जमीन में पुनः गाड़ देते हैं।

जब कुरुम्ब लोग उत्तरोत्तर समृद्धि प्राप्त करते तथा सुख-शान्तिसे जीवन यापन करते हुए राज्य कर रहे थे तब चोल और पाण्ड्य राजा इनपर बार-बार आक्रमण करने लगे किन्तु वे कुरुम्बोंको परास्त करनेमें असमर्थ रहे; क्योंकि कुरुम्ब गण वीर थे और रणाङ्गणमें प्राण विसर्जन करने की पर्वाह नहीं करते थे। अपनी स्वतन्त्रताको वे अपने प्राणोंसे अधिक मूल्यवान समझते थे। कई बार तो ऐसा हुआ है कि आक्रमणकारी राजा पकड़े जाकर पुरलदुर्गके सामने पद्-श्रृ खलाओंसे काराबद्ध कर दिये गये।

इन वीर कुरुम्बोंके इतिहासका अभी तक आवश्यक अनुसंधान नहीं हुआ है और इनके सम्बन्धमें अनेक विवरण तामिलके संगम साहित्य और विशेषकर शैवमतके तामिल ग्रंथोंमें उपलब्ध होते हैं। यद्यपि ये शैवग्रन्थ अपने मतकी अतिशयोक्तियोंसे ओत-प्रोत हैं तो भी इनमें ऐसी अनेक बातें मिलती हैं जिनसे इतिहासकी किसी अंश तक पूर्ति होती है। अब हम पाठकोंको उस साहित्यके उपलब्ध विवरणोंसे प्राप्त संक्षिप्त तथ्यके अनुसार कुरुम्बोंकी आगेकी वार्ता बताते हैं:—

चोल और पाण्ड्य राजाओंके बार-बारके आक्रमण असफल होते रहनेसे द्वेषाग्नि और ईर्षा उत्तरोत्तर बढ़ती गई और शैवमतके धर्मान्ध आचार्योंने जैन कुरुम्बोंके विरुद्ध द्वेषाग्निमें आहूति प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। उनके कथनसे अन्तमें 'आडोन्डई' नामक चोलनृपति, जो कुलोत्तुंग चोलराजाका औरसपुत्र था, उसने कुरुम्बराजधानी 'पुरलूर' पर एक बहुत बड़ी सेना लेकर आक्रमण किया। दोनों ओरसे घमासान युद्ध हुआ और अनेक वीर आहत-निहत हुए, किन्तु आडोन्डई राजाकी तीन चौथाई सेनाके खेत आजानेसे उसके पाँव उखड़ गए और उसने अवशिष्ट सेनाके साथ भागकर निकटके स्थानमें आश्रय लिया (यह स्थान अब भी 'चोलनपेडू' के नामसे पुकारा जाता है)। शोकाभिभूत होकर उसने दूसरे दिन प्रातःकाल तंजोर लौट जानेका विचार किया। किन्तु रात्रिके एक स्वप्नमें शिवजीने प्रगट होकर उन्हें आश्वासन दिया कि कुरुम्बोंपर तुम्हारी पूर्ण विजय होगी। इस स्वप्नसे प्रोत्साहित हो वह पुनः रणक्षेत्रपर लौटा और कुरुम्बोंको परास्त कर कुरुम्ब नृपतिको तलवारके घाट उतार दिया और पुरलदुर्गके बहुमूल्य धातुके कपाटोंको उखाड़कर तंजोर भेजकर वहांके शैवमन्दिरके गर्भगृहमें उन्हें लगवा दिया गया। इसके बाद क्रमसे अन्य अवशिष्ट तेईस दुर्गोंको भी जीतकर और उनके शासकोंका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वध कर सारी कुरुम्बभूमि पर अधिकार कर उसका नाम 'टोन्डमण्डलम्' रख दिया।

इस कथानकका बहुभाग 'तिरुमूलैवयल्पटिकम्' नामक शैव ग्रन्थसे लिया गया है। टेलर साहबके अभिमतसे (सं. ग्रं.३, पृ. ४५२) इस कथाका सारांश यह है कि हिंदुओंने कोलीरुन नदीके दक्षिणकी ओरके देशमें तो उपनिवेश अति प्राचीनकालमें स्थापित कर लिया था और उपर्युक्त युद्धके समयसे मद्रासके चतुर्दिकवर्ती देशमें उन्होंने पदार्पण किया। राजनैतिकके साथ-साथ धर्मान्धता भी इस आक्रमणका कारण थी; क्योंकि जैनधर्मके प्राधान्यको चूर्ण करना था। शैवमतका प्रभुत्व हो जाना ही इस युद्धका मुख्य परिणाम हुआ। यद्यपि लिङ्गायत मतमें अनेक कुरुम्बोंको परिणत कर दिया गया, तो भी कुरुम्बोंसे जैनधर्म विहीन न हो सका।

चोल राजाओंका अब तक जितना इतिहास प्रगट हो चुका है उसमें 'आडोन्डई' नामके किसी भी नृपतिका नाम नहीं मिलता है। हां, कुलोत्तुङ्ग चोल राजाका इतिहास प्राप्त है, उनका समय है सन् १०७० से ११२०। इसी प्रकार करिकाल चोलराजाका भी थोड़ा इतिहास अवश्य प्राप्त है, उनका समय पंचम शताब्दीसे पूर्वका है किन्तु यह युद्ध उनके समय नहीं हुआ था। मैं तो इस युद्धको १२ वीं शताब्दीके बादका मानता हूँ। इसका अनुसंधान मैं कर रहा हूँ।

पुरल (पुरुल्लूर) में और इसके निकटवर्ती क्षेत्रमें अब क्या-क्या बचा हुआ है इसका अनुसंधान करनेके लिये सन् १८८७ के लगभग आपर्ट साहब भी (स.ग्रं२) वहाँ स्वयं गये थे। उन्होंने लिखा है (पृ० २४८)—यह प्राचीन नगर मद्रास नगरसे उत्तर-पश्चिम आठ मील पर है और 'रेडहिल्स' नामक बृहत् जलाशय (जहां से मद्रासको अब पेयजल दिया जाता है) के पूर्वकी ओर अवस्थित है। इस क्षेत्र (Red Hills) के पल्ली नामक स्थानमें पुज्हलूर (पुरल) का प्राचीन दुर्ग था उस स्थानको अब भी लोग दिखाते हैं और वहां उसकी प्राचीरके कई भग्नावशेष विद्यमान हैं। मद्रासपर चढ़ाई करनेके समय हैदरअली यहीं ठहरा था। पुरलको 'वाण पुलल' भी कहते हैं और उसके निकट 'माधवरम्' नामका एक छोटा गाँव भी है। दक्षिण-पूर्वकी ओर एक मीलपर वर्तमान पुललग्राम है जिसमें आपर्ट साहबने तीन मन्दिर देखे थे, "एक आदि तीर्थंकरकी जैनवसति—जो उस समय यद्यपि जीर्णावस्थामें थी, तो भी वहाँ पूजा होती थी और वह प्राचीन समझी जाती थी। दूसरा मन्दिर वैष्णव था, जो प्राचीन नहीं था और तीसरा शैव मन्दिर था उसे 'आडोन्डई' चोलनृप द्वारा निर्मित कहा जाता था।' पुज्हलूर में भी गत मई मासमें गया था। वहाँ अब भी एक प्राचीन विशाल दिगम्बर जैन मन्दिर है जिसमें मूलनायक प्रथम तीर्थंकर आदिनाथकी एक बहुत बड़ी पद्मासन प्रस्तर-मूर्ति है जो बड़ी मनोज्ञ है। मंदिरके चारों ओरका क्षेत्र बड़ा ही चित्ताकर्षक और प्राकृतिक सौन्दर्यको प्रदर्शित करता है। दिगम्बर जैनोंमें यह रिवाज है, खासकर दक्षिणमें, कि प्रत्येक मन्दिरको किसी जैन दिगम्बर ब्राह्मण पुजारीके आधीन कर दिया जाता है जो वहां दैनिक पूजा, आरती किया करता है तथा उसकी देखभाल करता रहता है और मन्दिरका चढावा तथा उसके आधीन सम्पत्तिसे आयका किंचित् भाग उसे पारिश्रमिकके रूपमें प्राप्त होता रहता है। ऐसे मन्दिरोंके आस-पास जहां श्रावक नहीं रहे वहांके मन्दिरोंके पुजारी स्वयं सर्वेसर्वा बनकर उसकी सम्पत्तिको हड़प रहे हैं—ऐसे कई क्षेत्र मैंने देखे हैं। जिन मन्दिरोंकी बड़ी-बड़ी जमीदारी थी उन्हें ये हड़प चुके हैं और दक्षिणका दिगंबर जैन समाज ध्यान नहीं दे रहा है, यह दुःख की बात है। इसी पुज्हलूर (पुरल) दिगम्बर मन्दिरके पुजारीने भी ऐसा ही किया है। उस प्राचीन दिगम्बर मन्दिरकी मूलनायक ऋषभदेवकी मूर्तिपर चक्षु लगा दिये गए हैं। हमारे श्वेताम्बर भाई दिगम्बर मन्दिरोंमें पूजा-पाठ करें यह बहुत ही सराहनीय है और हम उनका स्वागत करते हैं; किन्तु यह कदापि उचित नहीं कहा जा सकता है कि वे किसी भी दिगम्बरमूर्ति पर आभूषण और चक्षु लगावें। यह चक्षु और आभूषण लगानेकी प्रथा स्वयं श्वेताम्बरोंमें भी प्राचीन नहीं है। यह शृंगारकी प्रथा तो पड़ौसी हिन्दुओंकी नकल है। बौद्धोंपर इनका प्रभाव नहीं पड़ा, इसीलिये उनकी मूर्तियोंमें विकार नहीं आया। समस्त परिग्रहत्यागी, निर्ग्रन्थ, वीतराग, बनवासी महात्माको यदि आभूषणसे शृंगारित कर दिया जाय तो किसीको भी अच्छा नहीं लगेगा और उसके सच्चे जीवनको भी वह कलंकित करेगा। क्या महात्मा गांधीजी की मूर्तिको आज कोई आभूषणोंसे सजानेका साहस करेंगे? फिर तीर्थंकर तो निर्ग्रंथ थे। ऊपर जिस पुज्हलूर (पुरल) जिलेका वर्णन किया गया है उसी पुज्हलूर जिलेके अन्तर्गत मद्रास अवस्थित था।

कुछ वर्ष हुए श्रीसीताराम आयर इन्जीनियरके नं० ३०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लायड्स स्ट्रीट रायपेट्टा (मद्रास) की जमीनसे ५ जैन मूर्तियाँ भवनके लिए नीव खोदते समय प्राप्त हुई थीं। श्री सीताराम-ने इनमेंसे ४ मूर्तियाँ तो किसी गाँवमें भेज दी थीं और एक मूर्ति अब भी उसी भवनके बाहरी आँगनमें पड़ी हुई है जिसका फोटो मैंने अभी ता० ४ मईको लिया था। यह पद्मासन मूर्ति महावीर स्वामी की है, और प्रायः ३८ इंच ऊँची है (चित्र)।

राजा सर अन्नमलाई चेट्टियर रोड, मद्रास, निवासी रायबहादुर एस. टी. श्रीनिवास गोपालाचारियरके पास दश-बारह जैन मूर्तियाँ हैं। इसी प्रकार न जाने मद्रासके कितने ही अन्य स्थानोंमें जैन मूर्तियाँ पड़ी होंगी, जिनका हमें पता ही नहीं है। और कितनी ही भूगर्भमें होंगी।

अब हम पाठकोंको मद्रासके ही एक विशिष्ट अंचलके सम्बन्धमें कुछ बताना चाहते हैं—वर्तमान पौर-सीमान्तर्गत 'मयिलापुर' नगरके दक्षिण भागमें अवस्थित है। इसकी प्राचीनता कमसे कम २० शताब्दी (द्विसहस्र) काल की है। और उस समयके उच्च श्रेणीके 'ग्रीक-रोमन' भूगोलज्ञ और वणिकों ने इस नगरकी महानताका उल्लेख किया है।

'मयिल' या 'मयिलै' का अर्थ है मयूरनगर। तामिल भाषामें मोरको मयिल कहते हैं। सन् १६४० में ईस्ट इंडिया कंपनी (अंग्रेजों) द्वारा फोर्ट सेंट जार्ज दुर्गके निर्माणसे मद्रास-का उत्पादन सम्भव हुआ, और मयिलापुर उस नूतन नगरके अन्तर्गत होकर उसमें मिल गया।

ई० पू० प्रथमशताब्दीके उत्तरार्ध के पवित्र 'तिरुकुरल' के अमर सृष्टा (रचयिता) लोक प्रसिद्ध तामिल सन्त 'तिरु-वल्लुवर' मयिलापुरके निवासी थे। ये जैनधर्मानुयायी थे (देखो. ए. चक्रवर्तीकी तिरुकुरल)। परम्परागत प्रवादसे ज्ञात होता है कि प्राचीनकालमें समुद्रतटके किनारे (Foreshore उस अंश पर जहां भाटाके समय जल नहीं रहता है), मयिलापुरमें एक बड़ा मन्दिर था, जिसे समुद्रके बढ़ आनेके कारण त्यक्त करना पड़ा था। इस घटनाका समर्थन जैन और क्रिश्चियन दोनों ही जन-श्रुतियोंसे होता है।

मयिलापुर कांचीके पल्लवराज्यका पोताश्रय (बन्दर) था। पल्लव नरेश नन्दिवर्मन तृतीयको मल्लयिवेन्दन अर्थात् मल्लयि या मामल्लपुरम् के नृपति और मयिलैकलन् अर्थात् मयिलापुरके रक्षक और अभिभावकके विरुद दिए गए थे। टोंडमण्डलम्के पुलियूरका यह एक भाग था। यह नगर जैनों और शैवोंके धार्मिक कार्य-कलापका केन्द्र था। और सप्तमशताब्दीके प्रसिद्ध शैव सन्यासी 'तिरुज्ञानसम्बन्ध' का यह भी कर्मक्षेत्र था। तिरुज्ञानसम्बन्धने जैनों पर बहुत उत्पीडन किया था।

१६ वीं १७ वीं शताब्दियोंमें मयिलापुरका अपने निकट के नगर सैनथामीसे घनिष्ट सम्बन्ध था। ऐसी जनश्रुति है कि १६०० वर्ष पूर्व सेन्ट थामसने मयिलापुर और उसके निकटस्थ स्थानोंमें क्रिश्चियन धर्मका प्रचार किया था। मयि-लापुरके सैनथामी गिरजाघरमें उनकी कब्र है। उन्हींके नामसे उस अंचलका नाम सैनथामी पड़ा था। यह दुःखकी बात है कि गिरजाघरकी नींवमें प्राचीन मन्दिरोंके पत्थरोंका उपयोग किया गया है।

सन् १४० में प्रसिद्ध भूगोलज्ञ टालेमीने दक्षिणभारतके पूर्व उपकूल पर स्थित जिस महत्वपूर्ण स्थानका मलियारफाके नामसे वर्णन किया है वह और मयिलापुर दोनों अभिन्न हैं। मलियारफा, टामिल शब्द मयिलापुरका अनुवाद है।

१६वीं शताब्दीमें 'डुआरेट वारवोसा, नामक प्रसिद्ध समुद्र यात्रीने क्रष्टानोंके इस पूज्य स्थानको उजड़ा हुआ देखा था। सन् १५२२में पुर्तगाल वासियोंने यहां उपनिवेश बनाया और कुछ ही समय बाद सेन्ट थामसकी कब्रके चारों ओर एक दुर्गका निर्माण किया और उसका नाम रक्खा 'सैन थामी डी मेलियापुर'।

प्राचीन कालमें मयिलापुर (अपर नाम वामनाथपुर) जैनोंका एक महान् केन्द्र था, वहां २२वें तीर्थंकर श्रीनेमि-नाथका प्राचीन मन्दिर था, यह मन्दिर उसी जगह पर था जहां अब सैनथामी गिर्जाघर अवस्थित है। एक विवरणके अनुसार यह मन्दिर बढ़ते हुए समुद्रके उदरमें समा गया था और अन्य कई लोगोंके मतानुसार पुर्तगाल-वासियोंने धर्म-द्वेषके कारण इसका विध्वंसकर इसकी सारी सम्पत्तिका अप-हरण कर लिया था।

कहते हैं कि १५वीं शताब्दीके शेष भागमें समुद्र बढ़कर मन्दिरके निकट आ गया था और भय हुआ कि मन्दिर डूब जायगा, इससे वहां की मूल नायक प्रतिमा (नेमिनाथकी) वहांसे हटाकर दक्षिण आरकट जिलान्तर्गत चित्तामूरके जैन मन्दिरमें विराजमान कर दी गई, जहां पर अब भी इस प्रतिमाकी पूजा होती है। उपर्युक्त नेमिनाथ मंदिर तथा अन्य जैन मन्दिरोंके मयिलापुरमें अस्तित्वके साहित्यिक और पुरातात्विक प्रमाण भी उपलब्ध हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीर शासन संघ कलकत्ता से प्राप्त

जैन-मन्दिरका गोपुर-तिरुपरुट्टिकुत्रम (जिनकांची)

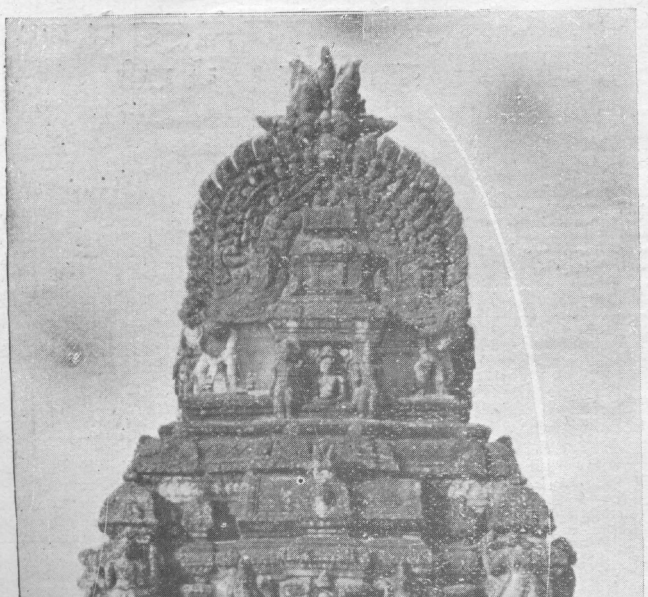

जैन-मन्दिर का शिखर—तिरुपरुट्टिकुत्रम (जिनकांची)

सैन थामी अनाथालय (मयिलापुर) की भूमि से प्राप्त तीर्थंकर मूर्त्ति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वीर शासन संघ कलकत्ता से प्राप्त

महावीर, ३० लायड स्ट्रीट, रायपेटा ( मद्रास )

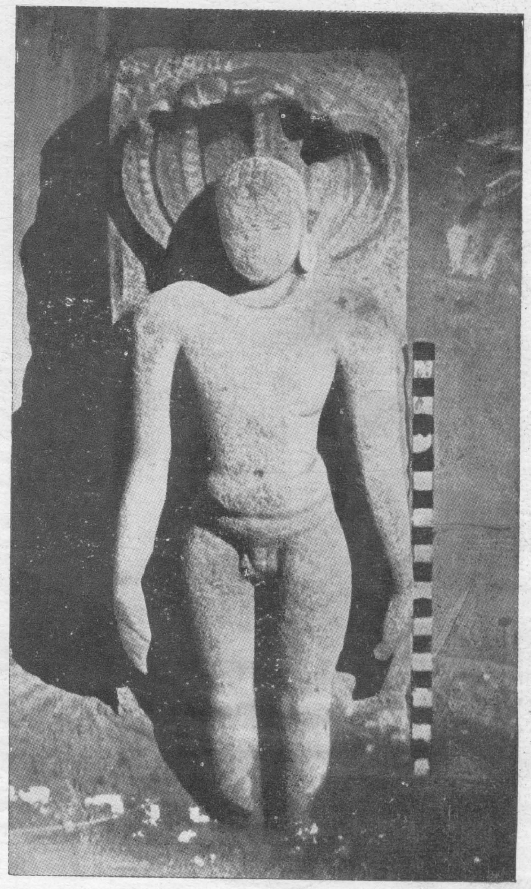

मयिलापुर में नारियल के कुञ्ज से प्राप्त
सुपार्श्वनाथ १७ वीं शती

१२ वीं शताब्दी का शिला लेख, सैन थामी स्कूल
मयिलापुर ( मद्रास )

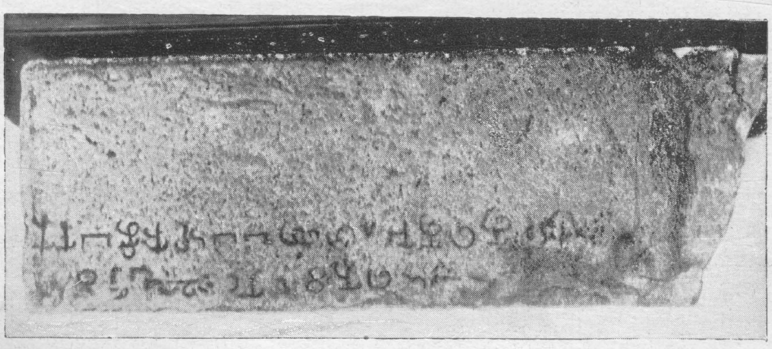

१ ली पंक्ति—....उटपड नेमिनाथ स्वामिकू [ कु ]
२ री पंक्ति—क्कुडुत्तोम इवइ पलनदीपरा....

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सेन्ट थामी स्कूलके मुख्य द्वार पर ले जाने वाली अंतिम सोपानके दक्षिणकी ओरसे एक खंडित शिला-लेख कुछ समय पूर्व प्राप्त हुआ था। यह प्रस्तर खण्ड ३६×१२ इंच-का है। और इस पर तामिलभाषामें निम्न लेख अङ्कित है...( देखो चित्र ※ )

(प्रथम पक्ति)·········उटपड नेमिनाथ स्वामिक (कु) (द्वितीय पंक्ति ·········कडुत्तोम इवै पलन्दी परा अनुवादक······( इन सबके ) सहित हम नेमिनाथ स्वामी को प्रदान करते हैं। ( यह हस्ताक्षर हैं ) पलन्दीपराके। (देखो ग्रं० ४ और ५)

इससे स्पष्ट विदित होता है कि मयिलापुरमें नेमिनाथ स्वामीका मन्दिर था और शिलालेखकी प्राप्ति स्थानसे यह निश्चितरूपसे मालूम होता है कि ठीक इसी स्थानके आस-पास कहीं प्राचीन जैन मन्दिर था। इसकी पुष्टि करने वाले अनेक साहित्यिक प्रमाण भी उपलब्ध हैं।

१३ वीं शताब्दीके एक जैनकवि अविरोधि अज्हवरकी तामिलके १०३ पद्योंकी नेमिनाथकी स्तुति 'थिरुनुट्र अन्दथि' में उनके मयिलापुर स्थित मन्दिरका प्रथम पद्यमें ही उल्लेख किया है। इस कविने 'नेमिनाथाष्टक' नामके एक संस्कृत स्तोत्रकी भी रचना की है।

१३ वीं शताब्दीके एक दूसरे ग्रन्थकार गुणवीर पंडितने 'सिन्नुल' नामक अपने तामिल व्याकरणको मयिलापुरके नेमिनाथको समर्पित करते हुए उसका नाम 'नेमिनाथम्' रखा था। 'उधीसिथेवर' नामके एक जैन मुनिने अपने ग्रन्थ 'थिरुकलंबहम्', में मयिलापुरका उल्लेख किया है×।

इस मयिलापुरके नेमिनाथको 'मयिलयिनाथ' अर्थात् मयिलापुरके नाथ भी कहते हैं। तामिलभाषाके अतिप्राचीन और सुप्रसिद्ध व्याकरण 'नन्नुल' पर एक टीका है जो दक्षिण भारतमें आज भी अति सम्मानार्ह है। उसके रचयिता मयिलापुरके नेमिनाथ स्वामीके बड़े भक्त थे। उन्होंने भक्तिवश अपना नाम ही 'मयिलयिनाथ' रख लिया था।

अंग्रेज़ी जैनगजटके भूतपूर्व सम्पादक मद्रास निवासी श्री सी. एस. मल्लिनाथके पास तामिल लिपिमें लिखा हुआ एक प्राचीन ताडपत्रोंका गुटका (संग्रहग्रन्थ) है जिसकी कुल पत्रसंख्या २६३ है। प्रत्येक पत्र १४$\frac{3}{4}$×१$\frac{1}{2}$ इंच है। और प्रत्येक पत्रमें ७ पंक्तियां हैं। इस संग्रह ग्रंथके ६१वें पत्र पर एक 'नेमि नाथाष्टक' संस्कृत स्तोत्र है उसमें ( देखो, परिशिष्ट पृ० ४१ ) इन मयिलापुरके नेमि-नाथका और उस मन्दिरका सुन्दर वर्णन किया गया है। इस स्तोत्रमें मन्दिरकी स्थिति भीमसागरके मध्य लिखी है इससे यह विदित होता है कि समुद्रके उस भाग ( बंगोप सागर) का नाम भीमसागर था। किन्तु यह अभी निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसकी पुष्टिके लिये अन्य प्रमाणोंके अनुसन्धानकी आवश्यकता है। या यह भी हो सकता है कि वह मन्दिर भीमसागर नामके किसी विशाल जलाशयके मध्यमें स्थित रहा हो, जैसाकि पावापुर (विहार) में भगवान महावीरका जलमन्दिर ( निर्वाणक्षेत्र ) है। और कारकलके निकट वरंगलका जैनमन्दिर। इम्पीरियल गजेटियर के जिल्द xvi में एक नक्शा है जिसमें कपलेश्वर स्वामी मन्दिरके पास भीमनपेट है। वहाँ एक बड़ा तलाब भी है। क्या भीमसागर यहाँ था? इस प्रश्न पर भी विचार करना है।

इस समय पश्चिम 'टिन्डिवनम्' ताल्लुकमें 'चित्तामूर' ग्राममें नेमिनाथका एक मन्दिर है। जनश्रुति है कि नेमि-नाथ स्वामीकी वह मूर्ति मयिलापुरसे लाकर यहाँ विराजमान की गई थी; क्योंकि समुद्रके बढ़आनेसे मन्दिर जलमग्न हो चला था।

दक्षिण आरकाट जिलेका ( दिगम्बर ) जैनोंका मुख्य केन्द्रस्थान 'चित्तामूर' ( सितामूर ) है। वहां एक भव्य जैन मन्दिर है, और तामिल जैन प्रान्तके भट्टारकजीका मठ भी है। मन्दिरके उत्तरभागमें नेमिनाथस्वामीकी वह मनोज्ञ-मूर्ति विराजमान है। यह मूर्ति मयिलापुर से वहां लाई गई थी। इस घटनाको पुष्टि (ग्रं० ३,६) से भी होती है। ग्रन्थ नं० ३, से मालूम होता है कि एक वार किसी साधुको स्वप्न हुआ कि वह नगर (मयिलापुर) शीघ्र समुद्रसे आच्छन्न हो जायगा। अस्तु, यहांकी मूर्तियोंको हटा-कर समुद्रसे कुछ दूर मयिलमनगरमें ले आये और वहाँ अनेक मन्दिरोंका निर्माण हुआ। कुछ कालबाद दूसरी वार सावधान वाणी हुई कि तीन दिनके भीतर मयिलमनगर जल-मग्न हो जायेगा, इसलिए जैनों द्वारा वे मूर्तियाँ और भी दूर स्थानान्तरित कर दी गईं। मालूम होता है कि इसी समय नेमिनाथकी वह मूर्ति चित्तामूरमें पधराई गई थी। प्रथम प्राचीन नगर मयिलापुरके डूब जानेके बाद यह द्वितीय

※ नोट—प्रेसकी असावधानीसे यह शिलालेख उल्टा छप गया है।

× संस्कृत स्थविर शब्दके प्राकृतरूप थविर और थे होते हैं जिसका अपभ्रंश थेवर है। स्थविर वृद्ध साधुको कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मयिलमनगर उसीके निकट बसाया गया था ऐसा मालूम होता है और वर्तमान मयिलापुर वही दूसरा नगर है।

मुथु ग्रामनी स्ट्रीट और अप्पुमुडाली स्ट्रीट (मयिलापुर) के सन्धिस्थलमें नारियल वृक्षोंके एक कुंजमें पादड़ी एस० जे० हास्टेनको सन् १६३१ में भूगर्भसे दो दिगम्बर जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। वे दोनों मूर्तियाँ अब श्री एस० धनपालके गृह नं० १८ चित्राकुलम् इष्टवर स्ट्रीट (मयिलापुर) में हैं (चित्र) इनमें एक मूर्ति ४१ इंच ऊंची है जिसके पैर खंडित हैं। वह सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की है। दूसरी ४३ इंच ऊँची छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ की है। दोनों ही १०वीं ग्यारहवीं शताब्दी काल की हैं। इससे भी यह अनुमान होता है कि दशवीं शताब्दीमें उस स्थान पर कोई जैन मन्दिर था। (स-ग्रन्थ ५)

इस प्रकार हमें मयिलापुरमें १५वीं शताब्दीके पूर्वमें दो जैनमन्दिरोंके अस्तित्वका पता चलता है। इनके अतिरिक्त एक तीसरे मन्दिरका भी पता लगा है वह वर्तमानके सैन्टथामी आरफनेज (अनाथालय) की भूमि पर था। वहाँ से कुछ वर्ष हुए एक मस्तक-विहीन दिगम्बरजैन मूर्ति प्राप्त हुई थी जो १८×१३॥ इंच है वह मूर्ति सन् १६२१ से अभी तक विशप (पादड़ी) भवन (मयिलापुर) में है। चित्र। (स-ग्रन्थ ४, ५)

एक समय पुर्तगाल-गवर्नर (शासक) का पुराना प्रासाद जहाँ था वहांकी सैनथामी अनाथालय की अब भोजनशाला है। उसके ठीक पीछे की भूमिसे गत शताब्दीमें एक लेख युक्त श्वेत पाषाणकी जैनमूर्ति प्राप्त हुई थी। जब यह जायदाद फ्रैनसिस्कन मिशनरीज ऑफ मैरीके अधिकारमें आई तब उन्होंने वह मूर्ति एक गड्ढेमें डाल दी थी। सन् १६२१ में फादर हास्टेनने इस मूर्तिके अनुसन्धानके लिये उस स्थलको दो दो सप्ताह तक खनन करवाया जिसमें एक सौ रुपये व्यय हुए और धनाभावके कारण उस खुदाईको बन्द करना पड़ा।

सैनथामीचर्चके निकट जहाँ गूँगे-बहरोंका स्कूल है वह मकान पहले श्री धनकोटिराज इंजीनियर विक्टोरिया वर्क्स, सैनथामी हाई रोडका था। ३८ वर्ष हुए उस स्थानसे धातुकी एक जैन मूर्ति उन्हें प्राप्त हुई थी, किन्तु कुछ ही समय बाद वह चोरी चली गई।

इन उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि मयिलापुरमें कई जैन मन्दिर थे।

मद्रासके निकट कांजीवरम् एक अति प्राचीन नगर है। पल्लव-नरेशोंकी यह राजधानी थी। चतुर्थ शताब्दीसे अष्टम शताब्दी तक दक्षिण भारतके इस प्रदेशमें पल्लवोंका प्रचुर प्राबल्य था। कांजीवरम् 'मन्दिरोंका नगर' के नामसे प्रसिद्ध था और इससे जैनोंका सम्बन्ध अति प्राचीन कालसे रहा है। इस नगरके तीन प्रधान विभाग थे— लघुकांजीवरम् (विष्णुकांची), वृहत्कांजीवरम् (शिवकांची) और पिल्लयि पलयम् (जिनकांची) जो वस्त्रवपनका विशाल केन्द्र है। कांचीके निकट पश्चिमकी ओर निरूपरूट्टिकुन्नम् गाँव है जो एक समयके प्रसिद्ध जैन केन्द्रका स्मारक है। यहाँ दो भव्य जैन मन्दिर हैं—एक महावीर स्वामीका, दूसरा ऋषभदेवका। प्राचीन समयमें काँजीवरम् जैन और हिन्दुओं की उच्च शिक्षाओंका केन्द्र था। इसके सम्बन्धमें हम पूर्ण विवरण दूसरे लेखमें लिखेंगे।

इसी प्रकार पल्लव कालमें मामल्लपुरम् (महावल्लिपुरम्) संस्कृति और धर्म जागृतिका केन्द्र था। महाबल्लिपुरम्की एक प्राचीन जनश्रुतिसे यह निश्चयतः ज्ञात होता है कि यहांके अधिवासी कुरुम्ब जातिके लोग जैनधर्मानुयायी थे। इस प्राचीन नगरके जैन ऐतिह्य पर भी मैं अनुसन्धान कर रहा हूं।

इसी प्रकार मद्रासके निकटके कई अन्य स्थानोंके दर्शन भी मैं कर आया हूं जैसे—अकलंक वसति, आरपाक,म् असंगलम्, और यहांके जैन मन्दिर और मूर्तियोंके फोटो भी मैंने लिये है। समय समय पर इनके सम्बन्धमें भी सचित्र लेख प्रकट किये जावेंगे।

नोट—मेरे लेखोंमें जो चित्र प्रगट किए जाते हैं वे सब ब्लाक 'वीरशासनसंघ' कलकत्ताके सौजन्यसे प्राप्त होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

## Bibliograpy : सहायक ग्रन्थ


1. Annual Report of the Archaeological Survey of India for 1906-7 p. 221, n. 4 (Sir Walter Elliot)
2. On the Original Inhabitants of Bharatavarsha or India. by Gustav Oppert, Madras. 1889 pp. 215, 217, 236, 244, 245, 246 to 248, 257, 258, 260.
3. Catalogue Raisonne of Oriental Manuscripts in the Govt. Library, By Rev. W. Taylor. Vol. III, Madras 1862. pp. 372 to 374,363,421,430, to 433.
4. Voices from the Dust by Rev. B. A. Figredo, Mylapore, 1953.
5. Antiquities of San Thome and Mylapore by Hosten pp. 170, 175.
6. Imperial Gazetteer of India Vol, XVI, pp. 235, 364, 368, 369.
7. Tirukkural by A. Chakravarti, Madras, 1953.
8. List of Antiquarian Remains in Madras Presidency, Vol. I. PP. 177, 190
9. Cathay And the Way Thither, Being a Collection of Medieval Notices of China. Translated and edited by Henry Yule. New edition, revised by Henri Cordier, Vol.III, London,1914 pp.251, n.2.
10. A History of the City of Madras by C. S. Srinivasachari, Madras, 1939.
11. Vestiges of Old Madras 1640-1800 by H. D. Love, London, 1913.
12. Studies in South Indian Jainism.


## परिशिष्ट

# श्रीनेमिनाथाष्टकम्

श्रीमदाकृतिभासुरं जिनपुंगवं त्रिदिवागतम्, वामनाधिपुरे गतं मयिलापुरे पुनरागतम् ।
हेम-निर्मित-मन्दिरे गगनस्थितं हितकारणम्, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्विषम् ।।१।।
कामदेव-सुपूजितं करुणालयं कमलासनम्, भूमिनाथ-समर्चितं महनीयपादसरोरुहम् ।
भीमसागर-पद्ममध्य-समागतं मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्त्विषम् ।।२।।
पापनाशकरं परं परमेष्ठिनं परमेश्वरम्, कोप-मोह-विवर्जितं गरुरुग्मणि विबुधार्चितम् ।
दीप-धूप-सुगन्धिपुष्प-जलाक्षतैर्मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्विषम् ।।३।।
नागराज-नरामराधिप-संगताशिवतार्चनैः, सागरे परिपूजिते सकलार्चनैः शममीश्वरम् ।
रागरोषमशोकिनं वरशासनं मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्विषम् ।।४।।
वीतरागभयादिकं विबुधार्यतत्वनिरीक्षणम्, जातबोध-सुखादिकं जगदेकनाथमलंकृतम् ।
भूतभव्यजनाम्बुजद्वयभास्करं मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्विषम् ।।५।।
वीर-वीरजनं विभुं विमलेक्षणं कमलास्पदम्, धीर-धीरमुनिस्तुतं त्रिजगदद्भुतं पुरुषोत्तमम् ।
सार-सारपदस्थितं त्रिजगद्भुतं मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्विषम् ।।६।।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चामरासन-भानुमण्डल-पिण्डिवृक्ष-सरस्वती, भीमदुन्दुभि-पुष्पवृष्टि-सुमण्डितातपवारणैः ।
धाम येन कृतालयं करिशोभितं मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्त्विषम् ॥७॥
नेमिनाथमनामयं कमनीयमच्युतमक्षयम् , घातिकर्म-चतुष्टय-क्षयकारणं शिवदायिनम् ।
वादिराज-विराजितं वरशासनं मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्त्विषम् ॥८॥
सानन्द-वन्दित-पुरन्दरवृन्दमौलि-मन्दारफुल्ल-नवशेखरधूसरांघ्रिम् ।
आनन्दकन्दमतिसुन्दरमिन्दुकान्तम् , श्रीनेमिनाथ-जिननाथमहं नमामि ॥९॥

## हिंसक और अहिंसक

(पं० मुन्नालाल जैन 'मणि')
( षट्पद् )

( १ )

विषय-कषायासक्त जीव ही परवध ठाने ।
करै वैर विद्रोह जगत को वैरी जाने ॥
रहै प्रमादी, दीन, व्यसन में लीन, भयातुर ।
करे पाप समरम्भ समारंभ आरंभ कर कर ॥
हो मूर्छासे मूर्छित सदा जो नहिं निज-हित शुध करे ।
सो पर जीवन पर दया कर मणि कैसे यह दुःख हरे ?

( २ )

विषय-कषाय-विरक्त स्वयं पर दुख परिहारी ।
निष्प्रमाद, निरवद्य, अहिंसा - पंथ - प्रचारी ॥
सब प्रवृत्तिमें समिति रूप ही दृष्टी राखे ।
गुप्ति रूप वा रहे सदा समतामृत चाखे ॥
निज आत्म शौर्यसे धर्म वा संघ शौर्य दिशि दिश भरे ।
मणि वही अहिंसा धर्म-ध्वज विश्व शिखर पर फरहरे ॥

( ३ )

इन्द्रिय-सुखमें मग्न जीव निज सुख नहिं जाने ।
निज जाने बिन आत्म अहिंसा कैसे ठाने ॥
आत्म दया बिन अन्य जीव की करुणा कैसी ।
करुणा दिखती बाह्य जानिये बगुला जैसी ॥
हां विषय-विरत निज जानकर जिसने अपना हित किया ।
उस दयामूर्ति नरश्रेष्ठ ने पर हित भी कर यश लिया ॥

## सत्यवचन - माहात्म्य

( १ )

जल, शशि, मुक्ताहार, लेप चन्दन मलयागिर ।
चन्द्रकांति मणि भी त्यों शीतल नहीं तापहर ॥
ज्यों प्रिय मीठे सत्य वचन जगजन-हितकारी ।
वर्द्धन प्रीति, प्रतीति, शांतिकर, आतपहारी ॥
'मणि'-सत्यवचन समधर्म नहिं संयम, जप तप व्रत नहीं ।
है सत्याकर्षक शक्ति जहँ सब गुण खिंच आवें वहीं ॥

( २ )

सत्य वचन के अतिशयकर नहिं अग्नि जलावे ।
उदधि न सके डुबाय नदी पड़ती न बहावे ॥
वन्दीग्रहमें पड़े व्यक्ति को सत्य छुड़ावे ।
चिर बिछुड़े प्रियबन्धुजनों को सत्य मिलावे ॥
'मणि' सत्यवचनसे वृद्धि हो देशविदेश प्रसिद्धि हो ।
हो विश्वहितकर दिव्यध्वनि अन्तिम शिवसुख सिद्ध हो ॥

( पं० मुन्नालाल जैन 'मणि' )

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

# निसीहिया या नशियां

( पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री )

जैन समाजको छोड़कर अन्य किसी समाजमें 'निसीहिया' या 'नशियां' नाम सुननेमें नहीं आया और न जैन साहित्य-को छोड़कर अन्य भारतीय साहित्यमें ही यह नाम देखनेको मिलता है। इससे विदित होता है कि यह जैन समाजकी ही एक खास चीज़ है।

जैन शास्त्रोंके आलोडनसे ज्ञात होता है कि 'नशियां' का मूलमें प्राकृत रूप 'णिसीहिया' या 'णिसीधिया' रहा है। इसका संस्कृत रूप कुछ आचार्योंने निषीधिका और कुछने निषिद्धिका दिया है। कहीं-कहीं पर निषीधिका और निषद्या रूपभी देखनेमें आता है, पर वह बहुत प्राचीन नहीं मालूम देता। संस्कृत और कनड़ीके अनेक शिलालेखोंमें निसिधि, निसिदि, निषिधि, निषिदि, निसिद्धी. निसिधिग और निष्टिग रूप भी देखनेको मिलते हैं। प्राकृत 'णिसीहिया' का ही अपभ्रंश होकर 'निसीहिया' बना और उसीका परिवर्तित रूप निसियासे नसिया होकर आज नशियां व्यवहारमें आरहा है।

मालवा, राजस्थान, उत्तर तथा दक्षिण भारतके अनेक स्थानों पर निसिही या नसियां आज भी पाई जाती हैं। यह नगरसे बाहिर किसी एक भागमें होती है। वहां किसी साधु, यति या भट्टारक आदिका समाधिस्थान होता है, जहां पर कहीं चौकोर चबूतरा बना होता है, कहीं उस चबूतरे के चारों कोनों पर चार खम्भे खड़े कर ऊपरको गुम्बजदार छतरी बनी पाई जाती है और कहीं-कहीं छह-पाल या आठपालदार चबूतरे पर छह या आठ खम्भे खड़े कर उस पर गोल गुम्बज बनी हुई देखी जाती है। इस समाधि स्थान पर कहीं चरण-चिन्ह, कहीं चरण-पादुका और कहीं सांथिया बना हुआ दृष्टिगोचर होता है। कहीं कहीं इन उपर्युक्त बातोंमेंसे किसी एकके साथ पीछेके लोगोंने जिन-मन्दिर भी बनवा दिए हैं और अपने सुभीतेके लिए बगीचा, कुँआ, बावड़ी एवं धर्म-शाला आदि भी बना लिए हैं। दक्षिण प्रान्तकी अनेक निसिदियों पर शिलालेख भी पाये जाते हैं; जिनमें समाधि-मरण करने वाले महा पुरुषोंके जीवनका बहुत कुछ परिचय लिखा मिलता है। उत्तर प्रान्तके देवगढ़ क्षेत्र पर भी ऐसी शिलालेख-युक्त निषीधिकाएँ आज भी विद्यमान हैं। इतना होने पर भी आश्चर्यकी बात है कि हम लोग अभी तक इतना भी नहीं जान सके हैं कि यह निसीहिया या नशियाँ क्या वस्तु है और इसका प्रचार कबसे और क्यों प्रारम्भ हुआ?

संन्यास, सल्लेखना या समाधिमरण-पूर्वक मरने वाले साधुके शरीरका अन्तिम संस्कार जिस स्थान पर किया जाता था उस स्थानको निसीहिया कहा जाता था। जैसा कि आगे सप्रमाण बतलाया जायगा—दिगम्बर-परम्पराके अति प्राचीन ग्रन्थ भगवतीआराधनामें निसीहियाका यही अर्थ किया गया है। पीछे-पीछे यह 'निसीहिया' शब्द अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होने लगा, इसे भी आगे प्रगट किया जायगा।

जैन शास्त्रों और शिलालेखोंकी छान-बीन करने पर हमें इसका सबसे पुराना उल्लेख खारवेलके शिलालेखमें मिलता है, जो कि उदयगिरि पर अवस्थित है और जिसे कलिंग-देशाधिपति महाराज खारवेलने आजसे लगभग २२०० वर्ष पहले उत्कीर्ण कराया था। इस शिलालेखकी १४वीं पंक्तिमें "......कुमारीपवते अरहते पखीणसंसतेहि काय-निसी-दियाय..." और १५वीं पंक्तिमें...."अरहतनिसीदिया-समीपे पाभारे......' पाठ आया है। यद्यपि खारवेलके शिलालेखका यह अंश अभी तक पूरी तौरसे पढ़ा नहीं जा सका है और अनेक स्थल अभी भी सन्दिग्ध हैं, तथापि उक्त दोनों पंक्तियोंमें 'निसीदिया' पाठ स्पष्ट रूपसे पढ़ा जाता है जो कि निसीहियाका ही रूपान्तर है।

'निसीहिया' शब्दके अनेक उल्लेख विभिन्न अर्थोंमें दि० श्वे० आगमोंमें पाये जाते हैं। श्वे० आचारांग सूत्र (२, २, २) 'निसीहिया' की संस्कृत छाया 'निशीथिका' कर उसका अर्थ स्वाध्यायभूमि और भगवतीसूत्र (१४-१०) में अल्प-कालके लिए गृहीत स्थान किया गया है। समवायांगसूत्रमें 'निसीहिया' की संस्कृत छाया 'नैषेधिकी' कर उसका अर्थ स्वाध्यायभूमि, प्रतिक्रमणसूत्रमें पाप क्रियाका त्याग, स्थानांग-सूत्रमें व्यापारान्तरके निषेधरूप समाचारी आचार, वसुदेव-हिण्डिमें मुक्ति, मोक्ष, स्मशानभूमि, तीर्थंकर या सामान्य केवलीका निर्वाण-स्थान, स्तूप और समाधि अर्थ किया गया है। आवश्यकचूर्णिमें शरीर, वसतिका—साधुओंके रहनेका स्थान और स्थण्डिल अर्थात् निर्जीव भूमि अर्थ किया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गौतम गणधर-प्रथित माने जाने वाले दिगम्बर प्रतिक्रमणसूत्रमें निसीहियाओंकी वन्दना करते हुए—

'जाओ अण्णाओ काओवि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि' यह पाठ आया है—अर्थात् इस जीव-लोकमें जितनी भी निषीधिकाएं हैं, उन्हें नमस्कार हो।

उक्त प्रतिक्रमण सूत्रके संस्कृत टीकाकार आ० प्रभाचन्द्रने जो कि प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि अनेक दार्शनिक ग्रन्थोंके रचयिता और समाधिशतक, रत्नकरण्डक आदि अनेक ग्रन्थोंके टीकाकार हैं—निषीधिकाके अनेक अर्थोंका उल्लेख करते हुए अपने कथनकी पुष्टिमें कुछ प्राचीन गाथाएँ उद्धृत की हैं जो इस प्रकार हैं :—

जिण-सिद्धबिंब-णिलया किदगाकिदगा य रिद्धिजुदसाहू।
ण णजुदा मुणिपवरा णाणुप्पत्तीय णाणिजुदखेत्तं ।१।
सिद्धा य सिद्धभूमी सिद्धाण समासिओ णहो देसो।
सम्मत्तादिचउक्कं उप्पण्णं जेसु तेहिं सिदखेत्तं ।।२।।
चत्तं तेहिं य देहं तट्ठविदं जेसु ता णिसीहीओ।
जेसु विसुद्धा जोगा जोगधरा जेसु संठिया सम्मं ।।३।।
जोगपरिमुक्कदेहा पंडितमरणट्ठिदा णिसीहीओ।
तिविहे पंडितमरणे चिट्ठंति महामुणी समाहीए ।।४।।
एदाओ अण्णाओ णिसीहियाओ सया वंदे।

अर्थात्—कृत्रिम और अकृत्रिम जिनबिम्ब, सिद्धप्रतिबिम्ब, जिनालय, सिद्धालय, ऋद्धिसम्पन्नसाधु, तत्सेवित क्षेत्र, अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञानके धारक मुनिप्रवर, इन ज्ञानोंके उत्पन्न होनेके प्रदेश, उक्त ज्ञानियोंसे आश्रित क्षेत्र, सिद्ध भगवान् निर्वाणक्षेत्र, सिद्धोंसे समाश्रित सिद्धालय, सम्यक्त्वादि चार आराधनाओंसे युक्त तपस्वी, उक्त आराधकोंसे आश्रित क्षेत्र, आराधक या क्षपकके द्वारा छोड़े गये शरीरके आश्रयवर्ती प्रदेश, योगस्थित तपस्वी, तदाश्रित क्षेत्र, योगियोंके द्वारा उन्मुक्त शरीरके आश्रित प्रदेश और भक्त प्रत्याख्यान इंगिनी और प्रायोपगमन* इन तीन प्रकारके पंडितमरणमें स्थित साधु तथा पंडितमरण जहाँ पर हुआ है, ऐसे क्षेत्रः ये सब निषीधिकापदके वाच्य हैं।

निषीधिकापदके इतने अर्थ करनेके अनन्तर आचार्य प्रभाचन्द्र लिखते हैं :—

**अन्ये तु 'णिसीधियाए'** इत्यस्यार्थमित्थं व्याख्यानयन्ति—
णि त्ति णियमेहिं जुत्तो सित्ति य सिद्धिं तहा अहिग्गामी।
धि त्ति य धिदिबद्धकओ एत्ति य जि णसासणे भत्तो ॥

अर्थात् कुछ लोग 'निसीधिया' पदकी निरुक्ति करके उसका इस प्रकार अर्थ करते हैं:–नि—जो व्रतादिके नियमसे युक्त हो, सि—जो सिद्धिको प्राप्त हो या सिद्धि पानेको अभिमुख हो, धि—जो धृति अर्थात् धैर्यसे बद्ध कक्ष हो, और या—अर्थात् जिनशासनको धारण करने वाला हो, उसका भक्त हो। इन गुणोंसे युक्त पुरुष 'निसीधिया' पदका वाच्य है।

साधुओंके दैवसिक-रात्रिकप्रतिक्रमणमें 'निषिद्धिकादंडक' नामसे एक पाठ है। उसमें णिसीहिया या निषिद्धिका की वंदनाकी गई है। 'निसीहिया' किसका नाम है और उसका मूलमें क्या रूप रहा है इस पर उससे बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। पाठकोंकी जानकारीके लिए उसका कुछ आवश्यक अंश यहाँ दिया जाता है :—

'णमो जिणाणं ३। णमो णिसीहियाए ३। णमोत्थु दे अरहंत, सिद्ध बुद्ध, णीरय, णिम्मल,······ गुणरयण, सीलसायर, अणंत, अप्पमेय, महदिमहावीर-वड्ढमाण, बुद्धिरिसिणो चेदि णमोत्थु दे णमोत्थु दे णमोत्थु दे। (क्रियाकलाप पृष्ठ ५५)

××× सिद्धिणिसीहियाओ अट्ठावयपव्वए सम्मेदे उज्जंते चंपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिवालियसहाए जाओ अण्णाओ काओ वि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि, इसिपब्भारतलग्गयाणं सिद्धाणं बुद्धाणं कम्मचक्कमुक्काण णीरयाणं णिम्मलाणं गुरु-आइरिय-उवज्झायाणं पवत्ति-थेर-कुलयराणं चाउव्वण्णो य समणसंघो य

*भक्तनाम भोजन का है उसे क्रम-क्रमसे त्याग करके और अन्तमें उपवास करके जो शरीरका त्याग किया जाता है उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। भक्तप्रत्याख्यान करने वाला साधु अपने शरीरकी सेवा-टहल या वैयावृत्त्य स्वयं भी अपने हाथसे करता है और यदि दूसरा वैयावृत्त्य करे तो उसे भी स्वीकार कर लेता है। इंगिनीमरणमें शेष विधि-विधान तो भक्तप्रत्याख्यानके समान हो है पर इंगिनीमरण करने वाला साधु दूसरेके द्वारा की जाने वाली वैयावृत्यको स्वीकार नहीं करता, केवल अपनी सेवा-टहल अपने हाथसे करता है। परन्तु प्रायोपगमन मरण करने वाला इसे ग्रहण करनेके अनन्तर न स्वयं अपनी वैयावृत्त्य करता है और न दूसरेसे कराता है, किन्तु प्रतिमाके समान मरण होने तक संस्तर पर तदवस्थ रहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भरहेरावएसु दससु पंचसु महाविदेहेसु ।' (क्रियाकलाप पृष्ठ ४६) ।

अर्थात् जिनोंको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। निषीधिकाको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। अरहंत, सिद्ध, बुद्ध आदि अनेक विशेषण-विशिष्ट महति-महावीर-वर्धमान बुद्धिऋषिको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो।

अष्टापद, सम्मेदाचल, ऊर्जयन्त, चंपापुरी, पावापुरी, मध्यमापुरी और हस्तिपालितसभामें तथा जीवलोकमें जितनी भी निषीधिकाएं हैं, तथा ईषत्प्राग्भारनामक अष्टम पृथ्वीतलके अग्र भागपर स्थित सिद्ध, बुद्ध, कर्मचक्रसे विमुक्त, नीराग, निर्मल, सिद्धोंकी तथा गुरु, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, कुलकर (गणधर) और चार प्रकारके श्रमण-संघकी जो पांच महाविदेहोंमें और दश भरत और दश ऐरावत क्षेत्रोंमें जो भी निषिद्धिकाएँ हैं, उन्हें नमस्कार हो३।

इस उद्धरणसे एक बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि निषीधिका उस स्थानका नाम है, जहाँ से महामुनि कर्मोंका क्षय करके निर्वाण प्राप्त करते हैं और जहाँ पर आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक, स्थविर कुलकर और ऋषि, यति, मुनि, अनगाररूप चार प्रकारके श्रमण समाधिमरण करते हैं, वे सब निषीधिकाएँ कहलाती हैं।

बृहत्कल्पसूत्रनिर्युक्तिमें निषीधिकाको उपाश्रय या वसतिकाका पर्यायवाची माना है। यथा—

अवसग पडिसगसेज्जाआलय, वसधी णिसीहियाठाणे।
एगट्ठ वंजणाई उवसग वगडा य निक्खेवो ॥३२९५॥

अर्थात्—उपाश्रय, प्रतिश्रय, शय्या, आलय, वसति, निषीधिका और स्थान ये सब एकार्थवाचक नाम हैं।

इस गाथाके टीकाकारने निषीधिका का अर्थ इस प्रकार किया है :—

"निषेधः गमनादिव्यापारपरिहारः, स प्रयोजनमस्याः, तमर्हतीति वा नैषेधिकी।"

अर्थात्—गमनागमनादि कायिक व्यापारोंका परिहार कर साधुजन जहां निवास करें, उसे निषीधिका कहते हैं।

इससे आगे कल्पसूत्रनिर्युक्तिकी गाथा नं० ५५४१ में भी 'निसीहिया' का वर्णन आया है पर यहाँ पर उसका अर्थ उपाश्रय न करके समाधिमरण करने वाले क्षपक साधुके शरीरको जहां छोड़ा जाता है या दाह-संस्कार किया जाता है, उसे निसीहिया या निषिद्धिका कहा गया है। यहाँ पर टीकाकारने 'नैषेधिक्यां शवप्रतिष्ठापनभूम्याम्' ऐसा स्पष्ट अर्थ किया है। जिसकी पुष्टि आगेकी गाथा नं० ५५४२ से भी होती है।

भगवती आराधनामें जो कि दिगम्बर-सम्प्रदायका अति प्राचीन ग्रन्थ है वसतिकासे निषीधिकाको सर्वथा भिन्न अर्थमें लिया है। साधारणतः जिस स्थान पर साधुजन वर्षाकालमें रहते हैं, अथवा विहार करते हुए जहां रात्रिको बस जाते हैं, उसे वसतिका कहा है। वसतिका का विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है :—

"जिस स्थानपर स्वाध्याय और ध्यानमें कोई बाधा न हो, स्त्री, नपुंसक, नाई, धोबी, चाण्डाल आदि नीच जनोंका सम्पर्क न हो, शीत और उष्णकी बाधा न हो, एक दम बंद या खुला स्थान न हो, अंधेरा न हो, भूमि विषम-नीची-ऊँची न हो, विकलत्रय जीवोंकी बहुलता न हो, पंचेन्द्रिय पशु-पक्षियों और हिंसक जीवोंका संचार न हो, तथा जो एकान्त, शान्त, निरुपद्रव और निर्व्याक्षेप स्थान हो, ऐसे उद्यान-गृह, शून्य-गृह, गिरि-कन्दरा और भूमि-गुहा आदि स्थानमें साधुओंको निवास करना चाहिए। ये वसतिकाएं उत्तम मानी गई हैं।"

(देखो—भग० आराधना गा० २२८-२३०,६३३-६४१)

परन्तु वसतिकासे निषीधिका बिलकुल भिन्न होती है, इसका वर्णन भगवती आराधनामें बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है और बतलाया गया है कि जिस स्थान पर समाधिमरण करने वाले क्षपकके शरीरका विसर्जन या अंतिम संस्कार किया जाता है, उसे निषीधिका कहते हैं।

यथा--निषीधिका—आराधकशरीर - स्थापनास्थानम्।

(गा० १९६७ की मूलाराधना टीका)

साधुओंको आदेश दिया गया है कि वर्षाकाल प्रारंभहोनेके पूर्व चतुर्मास-स्थापनके साथ ही निषीधिका-योग्य भूमिका अन्वेषण और प्रतिलेखन करलेवें। यदि कदाचित् वर्षाकालमें किसी साधुका मरण हो जाय और निषीधिका योग्य भूमि पहलेसे देख न रखी हो, तो वर्षाकालमें उसे ढूढ़नेके कारण हरितकाय और त्रस जीवोंकी विराधना सम्भव है, क्योंकि उनसे उस समय सारी भूमि आच्छादित हो जाती है। अतः वर्षावास के साथ ही निषीधिकाका अन्वेषण और प्रतिलेखन कर लेना चाहिए।

भगवती आराधनाकी वे सब गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विजहणा निरूप्यते—

एवं कालगदस्स दु सरीरमंतो बहिज्ज वाहिं वा।
विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचंति जदणाए ॥१६६६॥
समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबंधे।
पडिलिहिदव्वा णियमा णिसीहिया सव्वसाधूहिं १६६७॥
एगंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा।
वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥१६६८॥
अभिसुआ असुसिराअघसा उज्जोवा बहुसमा यअसिणिद्धा
णिज्जंतुगा अहरिदा अविला य तहाअणाबाधा ॥१६६६॥
जा अवर-दक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अवराए।
वसधीदो वणिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति॥१६७०॥

अब समाधिसे मरे हुए साधुके शरीरको कहां परित्याग करे, इसका वर्णन करते हैं—इस प्रकार समाधिके साथ काल गत हुए साधुके शरीरको वैयावृत्य करने वाले साधु नगरसे बाहिर स्वयं ही यतनाके साथ प्रतिष्ठापन करें। साधुओंको चाहिए कि वर्षावासके तथा वर्षाऋतुके प्रारम्भमें निषीधिका-का नियमसे प्रतिलेखन करलें, यही श्रमणोंका स्थितिकल्प है। वह निषाधिका कैसी भूमिमें हो, इसका वर्णन करते हुए कहा गया है— वह एकान्त स्थानमें हो, प्रकाश युक्त हो, वसतिकासे न बहुत दूर हो, न बहुत पास हो, विस्तीर्ण हो, विध्वस्त या खण्डित न हो, दूर तक जिसकी भूमि दृढ़ या ठोस हो, दीमक-चींटी आदिसे रहित हो, छिद्र रहित हो, घिसी हुई या नीची-ऊँची न हो, सम-स्थल हो, उद्योतवती हो, स्निग्ध या चिकनी फिसलने वाली भूमि न हो निर्जन्तुक हो, हरितकायसे रहित हो, विलोंसे रहित हो, गीली या दल-दल युक्त न हो, और मनुष्य-तिर्यंचादिकी बाधासे रहित हो। वह निषीधिका वसतिकासे नैऋत्य, दक्षिण या पश्चिम दिशामें हो तो प्रशस्त मानी गई है।

इससे आगे भगवती आराधनाकारने विभिन्न दिशाओंमें होने वाली निषीधिकाओंके शुभाशुभ फलका वर्णन इस प्रकार किया है:—

यदि वसतिकासे निषीधिका नैऋत्य दिशामें हो, तो साधुसंघमें शान्ति और समाधि रहती है, दक्षिण दिशामें हो तो संघको आहार सुलभतासे मिलता है, पश्चिम दिशामें हो, तो संघका विहार सुखसे होता है और उसे ज्ञान-सयंमके उपकरणोंका लाभ होता है। यदि निषीधिका आग्नेय कोणमें हो, तो संघमें स्पर्धा अर्थात् तूँ-तूँ-मैं-मैं होती है, वायव्य दिशामें हो तो संघमें कलह उत्पन्न होता है, उत्तर दिशामें हो तो व्याधि उत्पन्न होती है, पूर्व दिशामें हो तो परस्परमें खींचातानी होती है और संघमें भेद पड़ जाता है। ईशान दिशामें हो तो किसी अन्य साधुका मरण होता है। (भग० आरा० गा० १९७१—१९७३)

इस विवेचनसे वसतिका और निषीधिकाका भेद बिल-कुल स्पष्ट हो जाता है। ऊपर उद्धृत गाथा नं० १९७० में यह साफ शब्दोंमें कहा गया है कि वसतिकासे दक्षिण, नैऋत्य और पश्चिम दिशामें निषीधिका प्रशस्त मानी गई है। यदि निषीधिका वसतिकाका ही पर्यायवाची नाम होता, सो ऐसा वर्णन क्यों किया जाता।

प्राकृत 'णिसीहिया' का अपभ्रंश ही 'निसीहिया' हुआ और वह कालान्तरमें नसिया होकर आजकल नशियांके रूपमें व्यवहृत होने लगा।

इसके अतिरिक्त आज कल लोग जिन मन्दिरमें प्रवेश करते हुए 'ओं जय जय जय, निस्सही निस्सही नस्सही, नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोस्तु' बोलते हैं। यहां बोले जाने वाले 'निस्सही' पदसे क्या अभिप्रेत था और आज हम लोगोंने उसे किस अर्थमें ले रखा है, यह भी एक विचारणीय बात है। कुछ लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि 'यदि कोई देवा-दिक भगवानके दर्शन-पूजनादि कर रहा हो, तो वह दूर या एक ओर हो जाय।' पर दर्शनके लिए मन्दिरमें प्रवेश करते हुए तीन वार निस्सही बोलकर 'नमोस्तु' बोलनेका यह अभिप्राय नहीं रहा है, किन्तु जैसा कि 'निषिद्धिका दंडकका उद्धरण देते हुए ऊपर बतलाया जा चुका है, वह अर्थ यहां अभिप्रेत है। ऊपर अनेक अर्थोंमें यह बताया जा चुका है कि निसीहि या यानिषीधिका का अर्थ जिन, जिन-बिम्ब, सिद्ध और सिद्ध-बिम्ब भी होता है। तदनुसार दर्शन करने वाला तीन वार 'निस्सही'—जो कि 'णिसिहीए' का अपभ्रंश रूप है—को बोलकर उसे तीन वार नमस्कार करता है। यथार्थ-में हमें मन्दिरमें प्रवेश करते समय 'णमो णिसीहियाए' या इसका संस्कृत रूप 'निषीधिकायै नमोऽस्तु, अथवा 'णिसी-हियाए णमोत्थु' पाठ बोलना चाहिए।

यहां यह शंका की जा सकती है कि फिर यह अर्थ कैसे प्रचलित हुआ—कि यदि कोई देवादिक दर्शन-पूजन कर रहा हो तो वह दूर हो जाय! मेरी समझमें इसका कारण 'निःसही या निस्सही जैसे अशुद्धपदके मूल रूपको ठीक तौरसे न समझ सकनेके कारण 'निर उपसर्ग पूर्वक सृ' गमनार्थक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धातुका आज्ञाके मध्यम पुरुष एक वचनका बिगड़ा रूप मान कर लोगोंने वैसी कल्पना कर डाली है। अथवा दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि साधुको किसी नवीन स्थानमें प्रवेश करने या वहांसे जानेके समय निसीहिया और आसिया करनेका विधान है। उसकी नकल करके लोगोंने मन्दिर-प्रवेशके समय बोले जाने वाले 'निसीहिया' पदका भी वही अर्थ लगा लिया है।

साधुओंके १० प्रकारके * समाचारोंमें निसीहिया और आसिया नामके दो समाचार हैं और उनका वर्णन मूलाचारमें इस प्रकार किया गया है :—

कंदर-पुलिण-गुहादिसु पवेसकाले णिसिद्धियं कुज्जा।
तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ॥१३४॥
—( समा० अधि० )

अर्थात्—गिरि-कंदरा, नदी आदिके पुलिन-मध्यवर्ती जलरहित स्थान और गुफा आदिमें प्रवेश करते हुए निषिद्धिका समाचारको करे और वहांसे निकलते या जाते समय आशिका समाचारको करे। इन दोनों समाचारोंका अर्थ टीकाकार आ० वसुनन्दिने इस प्रकार किया है :—

टीका—पविसंतेय प्रविशति च प्रवेशकाले णिसिही निषेधिका तत्रस्थानमभ्युपगम्य स्थानकरणं, सम्यग्दर्शनादिषु स्थिरभावो वा, णिग्गमणे-निर्गमनकाले आसिया देव-गृहस्थादीन् परिपृच्छ्य यानं, पापक्रियादिभ्यो मनोनिवर्तनं वा।"

अर्थात्—साधु जिस स्थानमें प्रवेश करें, उस स्थानके स्वामीसे आज्ञा लेकर प्रवेश करें। यदि उस स्थानका स्वामी कोई मनुष्य है तो उससे पूछें और यदि मनुष्य नहीं है तो उस स्थानके अधिष्ठाता देवताको सम्बोधन कर उससे पूछें इसीका नाम निसीहिका समाचार है। इसी प्रकार उस स्थानसे जाते समय भी उसके मालिक मनुष्य या क्षेत्रपालको पूछकर और उसका स्थान उसे संभलवा करके जावें। यह उनका आसिकासमाचार है अथवा करके इन दोनों पदोंका टीकाकारने एक दूसरा भी अर्थ किया है। वह यह कि विवक्षित स्थानमें प्रवेश करके सम्यग्दर्शनादिमें स्थिर होनेका नाम 'निसीहिया' और पाप-क्रियाओंसे मनके निवर्तनका नाम 'आसिया' है। आचारसारके कर्त्ता आ० वीरनन्दिने उक्त दोनों समाचारोंका इस प्रकार वर्णन किया है :—

जीवानां व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेधनम्।
अस्माभिः स्थीयते युष्मद्दिष्टैयवेति निषिद्धिका ॥११॥
प्रवासावसरे कन्दरावासा देर्निषिद्धिका।
तस्मान्निर्गने कार्या स्यादाशीर्वैरहारिणी ॥१२॥
(आचारसार द्वि० अ०)

अर्थात्—व्यन्तरादिक जीवोंकी बाधा दूर करनेके लिए जो निषेधात्मक वचन कहे जाते हैं कि भो क्षेत्रपाल यक्ष, हम लोग तुम्हारी आज्ञासे यहां निवास करते हैं, तुम लोग रुष्ट मत होना, इत्यादि व्यवहारको निषिद्धिका समाचार कहते हैं और वहाँ से जाते समय उन्हें वैर दूर करने वाला आशीर्वाद देना यह आशिका समाचार है।

ऐसा मालूम होता है कि लोगोंने साधुओंके लिए विधान किये गये समाचारोंका अनुसरण किया और "व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेधनम्" पदका अर्थ मन्दिर-प्रवेशके समय लगा लिया कि यदि कोई व्यन्तरादिक देव दर्शनादिक कर रहा हो तो वह दूर हो जाय और हमें बाधा न दे। पर वास्तवमें 'निस्सही' पद बोलनेका अर्थ 'निषीधिका अर्थात् जिनदेवका स्मरण कराने वाले स्थान या उनके प्रतिबिम्बके लिए नमस्कार अभिप्रेत रहा है।

## उपसंहार

मूलमें 'निसीहिया पद मृत साधु-शरीरके परिष्ठापन-स्थानके लिए प्रयुक्त किया जाता था। पीछे उस स्थानपर जो स्वस्तिक या चबूतरा-छतरी आदि बनाये जाने लगे, उनके लिए भी उसका प्रयोग किया जाने लगा। मध्य युगमें साधुओंके समाधिमरण करनेके लिए जो खास स्थान बनाये जाते थे उन्हें भी निसिधि या निसीहिया कहा जाता था। कालान्तरमें वहां जो उस साधुकी चरण-पादुका या मूर्त्ति आदि बनाई जाने लगी उसके लिए भी 'निसीहिया' शब्द प्रयुक्त होने लगा। आजकल उसीका अपभ्रंश या विकृत रूप निशि, निसिधि और नशियां आदिके रूपमें दृष्टिगोचर होता है।

* साधुओंका अपने गुरुओंके साथ तथा अन्य साधुओंके साथ जो पारस्परिक शिष्टाचारका व्यवहार होता है, उसे समाचार कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

# तीर्थ और तीर्थंकर

साधारणतः नदी-समुद्रादिके पार उतारनेवाले घाट आदि स्थानको तीर्थ कहा जाता है। आचार्योंने तीर्थके दो भेद किए हैं:—द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ। महर्षि कुन्दकुन्दने द्रव्यतीर्थका स्वरूप इस प्रकार कहा है:—

दाहोपसमणं तण्हाछेदो मलपंकपवहणं चेव।
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तम्हा तं दव्वदो तित्थं ॥६२॥

अर्थात् जिसके द्वारा शारीरिक दाहका उपशमन हो, प्यास शान्त हो और शारीरिक या वस्त्रादिका मैल वा कीचड़ बह जाय, इन तीन कारणोंसे युक्त स्थानको द्रव्यतीर्थ कहते हैं। (मूलाचार षडावश्यकाधिकार)

इस व्याख्याके अनुसार गंगादि नदियोंके उन घाट आदि खास स्थानोंको तीर्थ कहा जाता है, जिनके कि द्वारा उक्त तीनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं। पर यह द्रव्यतीर्थ केवल शरीरके दाहको ही शान्त कर सकता है, मानसिक सन्तापको नहीं; शरीर पर लगे हुए मैल या कीचड़को धो सकता है, आत्मा पर लगे हुए अनादिकालीन मैलको नहीं धो सकता; शारीरिक तृष्णा अर्थात् प्यासको बुझा सकता है, पर आत्माकी तृष्णा परिग्रह-संचयकी लालसाको नहीं बुझा सकता। आत्माके मानसिक दाह, तृष्णा और कर्म-मलको तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय-तीर्थ ही दूर कर सकता है। अतएव आचार्योंने उसे भावतीर्थ कहा है।

आ० कुन्दकुन्दने भावतीर्थका स्वरूप इस प्रकार कहा है:—

दंसण-णाण-चरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेवि।
तिहिं कारणेहिं जुत्ता तम्हा ते भावदो तित्थं ॥६३॥

आत्माके अनादिकालीन अज्ञान और मोह-जनित दाहकी शान्ति सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति से ही होती है। जब तक जीवको अपने स्वरूपका यथार्थ दर्शन नहीं होता, तब तक उसके हृदयमें अहंकार-ममकार-जनित मानसिक दाह बना रहता है और तभी तक इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोगों के कारण वह बेचेनीका अनुभव करता रहता है। किन्तु जिस समय उसके हृदय में यह विवेक प्रकट हो जाता है कि पर पदार्थ कोई मेरे नहीं है और न कोई अन्य पदार्थ मुझे सुख-दुख दे सकते हैं; किन्तु मेरे ही भले बुरे-कर्म मुझे सुख-दुख देते हैं, तभी उसके हृदयका दाह शान्त हो जाता है। इस लिए आचार्योंने सम्यग्दर्शनको दाहका उपशमन करने वाला कहा है।

पर पदार्थोंके संग्रह करनेकी तृष्णाका छेद सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिसे होता है। जब तक आत्माको अपने आपका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक वह धन, स्त्री, पुत्र, परिजन, भवन, उद्यानादि पर पदार्थोंको सुख देने वाला समझ कर रात-दिन उनके संग्रह अर्जन और रक्षणकी तृष्णामें पड़ा रहता है। किन्तु जब उसे यह बोध हो जाता है कि—

"धन, समाज, गज, बाज, राज तो काज न आवे,
ज्ञान• आपको रूप भये थिर अचल रहावे।"

तभी वह पर पदार्थोंके अर्जन और रक्षणकी तृष्णाको छोड़कर आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका प्रयत्न करता है और पर पदार्थोंके पानेकी तृष्णाको आत्मस्वरूपके जाननेकी इच्छामें परिणत कर निरन्तर आत्मज्ञान प्राप्त करने, उसे बढ़ाने और संरक्षण करनेमें तत्पर रहने लगता है। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञानको तृष्णाका छेद करने वाला माना गया है।

जल शारीरिक मल और पंकको बहा देता है, पर वह आत्माके द्रव्य-भावरूप मल और पंकको बहानेमें असमर्थ है। किन्तु शुद्ध आचरण आत्माके ज्ञानावरणादि रूप आठ प्रकारके द्रव्य-कर्म-पंकको और रागद्वेषरूप भाव-कर्म-मलको बहा देता है और आत्माको शुद्ध कर देता है, इस लिए हमारे महर्षियोंने सम्यक्चारित्रको कर्म-मल और पाप-पंकका बहानेवाला कहा है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूप रत्नत्रय धर्म ही भावतीर्थ है और इसके द्वारा ही भव्य-जीव संसार-सागरसे पार उतरते हैं।

इस रत्नत्रयरूप भावतीर्थका जो प्रवर्तन करते हैं, पहले अपने राग, द्वेष, मोह पर विजय पाकर अपने दाह और तृष्णाको दूर कर ज्ञानावरणादि कर्म-मलको बहाकर स्वयं शुद्ध हो संसार-सागरसे पार उतरते हैं और साथमें अन्य जीवोंको भी रत्नत्रयरूप धर्म-तीर्थका उपदेश देकर उन्हें पार उतारते हैं—जगत्के दुःखोंसे छुड़ा देते हैं—वे तीर्थंकर कहलाते हैं। लोग इन्हें तीर्थंकर, तीर्थकर्त्ता, तीर्थकारक, तीर्थकृत्, तीर्थनायक, तीर्थप्रणेता, तीर्थप्रवर्तक, तीर्थकर्ता, तीर्थ-विधायक, तीर्थवेधा, तीर्थसृष्टा और तीर्थेश-आदि नामोंसे पुकारते हैं।

संसारमें सद्ज्ञानका प्रकाश करनेवाले और धर्मरूप तीर्थका प्रवर्तन करनेवाले तीर्थंकरोंको हमारा नमस्कार है।

—हीरालाल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

# राजस्थानके जैनशास्त्रभंडारोंमें उपलब्ध महत्त्वपूर्ण साहित्य

( अनेकान्त वर्ष १२ किरण ५ से आगे )

( ले० कस्तूरचन्द काशलीवाल एम० ए० )

( ६ ) अष्टसहस्री—आचार्य विद्यानन्दका यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जैन दार्शनिक संस्कृत साहित्यमें ही नहीं किन्तु भारतीय दर्शनसाहित्यमें भी एक उल्लेखनीय रचना है। आचार्य विद्यानन्द अपने समयके एक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान थे। इनकी अनेक दार्शनिक रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनके अध्ययनसे उनकी विशाल प्रज्ञा और चमत्कारिणी प्रतिभाका पद पद पर दर्शन होता है। अष्टसहस्री को तो विद्वानोंने कष्टसहस्री बतलाया है। इनकी दार्शनिक महत्तासे वे भली भांति परिचित हैं जिन्होंने उसका आकण्ठ पान किया है। भट्टाकलंकदेव कृत अष्टशतीका यह महाभाष्य है। जिसका दूसरा नाम आप्तमीमांसालंकृति है। इसकी संवत् १४६० की लिखी हुई एक प्राचीन प्रति जयपुरके तेरह पंथियोंके श्री दि० जैन बड़ा मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें सुरक्षित है। प्रति सुन्दर शुद्ध तथा साधारण अवस्थामें है। इस ग्रन्थकी प्रतिलिपि आचार्य शुभचन्द्रकी प्रतिशिष्या आर्या मलयश्रीने करवायी थी। इसके लिपिकार गजराज थे, जिन्होंने विक्रम् संवत् १४६० फाल्गुन वदी २ के दिन इसकी प्रतिलिपि पूर्ण की थी। इस प्रतिको शुभचन्द्रने अपने पीछे होने वाले भट्टारक वर्द्धमानको प्रदान की थी। ग्रन्थकी लेखक प्रशस्ति निम्न प्रकार है:—

(स्वस्ति) श्रीमूलामलसंघमंडणमणिः श्रीकुन्दकुन्दान्वये,
गीर्गच्छे च बलात्कारकगणे श्रीनन्दिसंघाग्रणीः।
स्याद्वादेतर वादिदंतिदवणो (मनो) द्यत्पाणि-पंचाननो,
यावत्सोऽस्तु सुमेधसामिह मुदे श्रीपद्मनन्दी गणी॥

श्रीपद्मनन्द्यधिप-पट्ट पयोजहंस-
श्वेतातपत्रितयशस्फुरदात्मवशः (श्यः)।
राजाधिराजकृतपादपयोजसेवः
स्यान्नः श्रिये कुवलये शुभचन्द्रदेवः ॥२॥

आर्याशीदार्यवर्य्यै र्या दीक्षिता पद्मनंदिभिः।
रत्नश्रीरिति विख्याता तन्नामैवास्ति दीक्षिता ॥३॥
शुभचन्द्रार्यवर्यै र्या श्रीमद्भिः शीलशालिनी।
मलयश्रीरितिख्याता शांतिका गर्व्वगालिनी ॥४॥
तयैषा लेखिता यस्य ज्ञानावरणशान्तये।
लिखिता गजराजेन जीयादष्टसहस्रिका ॥५॥
व्योमग्रहाब्धि चन्द्राब्धे,(संवत्१४६०)विक्रमार्के महीपते
द्वितीया वाक्पतौ पूर्णो फाल्गुणार्जुन पाक्षिके ॥६॥
फाल्गुण सुदी २ गुरौ प्रदत्ता वर्द्धमानाय,
भावि भट्टारकोत्थ यः।
श्रेयसे··· ···············ध्ययनशालिना ॥७॥

७ उत्तरपुराण टिप्पण—श्री गुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराण संस्कृत पुराणसाहित्यमें उल्लेखनीय रचना है। उत्तरपुराणको महाकाव्यका भी नाम दिया जा सकता है; क्योंकि महाकाब्यमें मिलने वाले लक्षण इस पुराणमें भी पाए जाते हैं। उत्तरपुराण महापुराणका उत्तर भाग है। इसका पूर्वभाग जो आदिपुराणके नामसे प्रसिद्ध है जिनसेनाचार्य कृत है। गुणभद्राचार्य जिनसेनाचार्यके शिष्य थे। ये विक्रमकी ६वीं शताब्दीके विद्वान थे।

जैन समाजमें आदिपुराण और उत्तरपुराण इतने अधिक लोक-प्रिय बने हुए हैं कि ऐसा कोई ही जैन होगा जिसने इसका स्वाध्याय अथवा श्रवण नहीं किया हो। जैनोंके प्रत्येक भण्डारमें इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ १०-१५ की संख्यामें मिलती हैं। इसकी कितनी ही हिन्दी टीकाएँ हो चुकी हैं जिनमें पं० दौलतरामजी कृत उत्तर पुराणकी टीका उल्लेखनीय है, इसी उत्तरपुराणका एक संस्कृत टिप्पण अभी बड़े मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें उपलब्ध हुआ है।

टिप्पण सरल संस्कृतमें है। मूल ग्रन्थके क्लिष्ट संस्कृत शब्दोंको सरल संस्कृतमें हो समझाया गया है। टिप्पण उत्तम है। टिप्पणकार कौन और कब हुए हैं यह टिप्पण परसे कुछ ज्ञात नहीं होता। टिप्पणकारने अपना ग्रन्थके आदि और अन्तमें कहीं भी कोई परिचय नहीं दिया है। पूनासे प्रकाशित 'जिनरत्नकोश' में आचार्य प्रभाचन्द्र कृत एक टिप्पणका उल्लेख अवश्य किया गया है। यह टिप्पण भी इन्हीं प्रभाचन्द्रका है अथवा नहीं है इस विषयमें जब तक दोनों प्रतियोंका मिलान न हो तब तक निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त श्रद्धेय पं० नाथूराम जी प्रेमीने अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' में श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र वाले लेखमें प्रभाचन्द्रकी रचनाओंमें गुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराणके टिप्पणका कोई उल्लेख नहीं किया। इस लिए प्रभाचन्द्रने ही यह टिप्पण लिखा हो ऐसी कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

टिप्पणके पूरे पत्र ११५ हैं। टिप्पणकारने आरम्भमें अपने कोई निजी मंगलाचरणसे टिप्पण प्रारम्भ नहीं किया है किन्तु मूलग्रन्थके पदमें ही टिप्पण आरम्भ कर दिया है। टिप्पणका प्रारम्भिक भाग इस प्रकार है :—

विनेयानां भव्यानां । अवाग्भागे-दक्षिणभागे। प्रणयिनः संतः। वृणुतेस्म भजंतिस्म । शक्ति सिद्धि। त्रयोपेतः प्रभूत्साह मंत्र शक्तयस्तिस्त्रः।

प्रभूशक्ति भवेदाद्या मंत्रशक्तिर्द्वितीयका।

तृतीयोत्साह शक्तिश्चेत्याहु शक्तित्रयं बुधाः॥

टिप्पणका अन्तिम भाग —

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टि महापुराणसंग्रहे श्रीवर्द्धमानतीर्थंकरपुराणं परिसमाप्तं षट्सप्ततितमं पर्व्व ॥७६॥

यह प्रति संवत् १५६६ कार्तिक सुदी ५ सोमवारके दिन की लिखी हुई है। इसकी प्रतिलिपि खण्डेलवाल वंशोत्पन्न पापल्या गोत्रवाले संगही नेमा द्वारा करवायी गयी थी। लिपिकार श्री हुल्लू के पुत्र पं० रतनू थे।

(८) तत्त्वार्थसूत्र टीका :—

तत्त्वार्थसूत्रका जैनोंमें सबसे अधिक प्रचार है। जैन समाजमें इसका उतना ही आदरणीय स्थान है जितना ईसाई समाजमें बाइबिल का, हिन्दू समाजमें गीताका तथा मुसलिम समाजमें कुरान का है। यह उमास्वामिकी अमूल्य भेंट है। सर्व प्रिय होनेके कारण इस पर अनेक टीकायें उपलब्ध हैं जिनरत्नकोश' में इनकी संख्या ३६ बतलायी गई हैं लेकिन वास्तवमें इससे भी अधिक इस पर टीकायें मिलती हैं! तत्त्वार्थसूत्रकी टीका हिन्दी, संस्कृत, गुजराती, तामिल, तेलगू कन्नड आदि सभी भाषाओंमें उपलब्ध होती हैं। इसी तत्त्वार्थ सूत्र पर एक टीका अभी मुझे बड़े मन्दिर (जयपुर) के शास्त्र भण्डरमें उपलब्ध हुई है जिसका परिचय पाठकोंकी सेवामें उपस्थित किया जा रहा है :—

तत्त्वार्थसूत्रकी यह टीका १७८ पत्रोंमें समाप्त होती है। टीकाकार कौन है तथा उन्होंने इसे कब समाप्त किया था। आदि तथ्योंके लिये यह प्रति मौन है। यह प्रति संवत् १६५६ आसोज सुदी ११ मंगलवारकी है। साह श्री खीवसी अग्रवालने इसकी प्रतिलिपि करवायी थी एवं रणथम्भोर दुर्गमें पूर्णमल कायस्थ माथुरने इसकी प्रतिलिपि की थी।

टीका अत्यधिक सरल है एवं टीकाकार ने तत्त्वार्थसूत्रके गूढ़ अर्थको समझानेका काफी प्रयत्न किया है। संस्कृत भाषाके अतिरिक्त उसने बीच २ में हिन्दीके पद्योंका भी प्रयोग किया है और उदाहरण देकर विषयको समझानेका प्रयत्न किया है। टीकाका प्रारम्भ निम्न प्रकार है :—

मोक्षमार्गस्य भेत्तारं भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये।

अस्यार्थ :—विशिष्ट इष्ट देवता नमस्कार पूर्वं तत्वार्थशास्त्रं करोमि। मोक्षमार्गस्य नेतारं को विशेशः यः परमेश्वरः अरहंतदेवः मोक्षमार्ग-अनन्तचतुष्टय सौख्यः शाश्वतासौख्यः अव्यय विनाशरहितः ईदृग्विधं मोक्षमार्गस्य निश्चय व्यवहारस्य निरवशेषनिराकृतमलकलंकस्य शरीस्यात्मनो स्वाभाविकतान् ज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमत्यंतिकमवस्थान्तरं मोक्षः तस्य मार्ग उपायः तस्य नेत्तारं उपदेशकं ·················।

मंगलाचरणके पश्चात् ग्रन्थके प्रथम सूत्रकी भी टीका देखिये :—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं—

तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची। भो भगवन्!

सम्यग्दर्शनं किम् उक्तं च ?

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट।
अष्टौ शंकादयो दोषा दृग्दोषाः पंचविंशति॥

पंचविंशति मलरहितं तत्त्वर्थानां भावना रुचिः सम्यग्दर्शनं भवति।

टीकाके बीच २ में टीकाकारने संस्कृत एवं कहीं २ हिन्दीके पद्योंका उद्धरण दिया है इससे विषय और भी स्पष्ट होगया है तथा यह एक नवीन शैली है जिसे टीकाकारने अपनायी है। अभी तक संस्कृत टीकाओं में हिन्दी पद्योंके उद्धरण देखने में नहीं आये। टीकाकारके समयमें हिन्दीकी व्यापकता एवं लोकप्रियताकी भी यह द्योतक है। टीका में आये हुए कुछ उद्धरणोंको देखियेः—

जो जेहा नर सेवियउ सो ते ही फलपत्ति।
जलहिं पमाणें पुण्डइ विहिणालइ निप्पजन्ति॥
भवाब्धौ भव्यसार्थस्य निर्वाणद्वीपायनः।
चारित्रयान पात्रस्य कर्णधारो हि दर्शनः॥
हस्ते चिंतामणि यस्य गृहे यस्य सुरद्रुमः।
कामधेनु धनं यस्य तस्य का प्रार्थना परा॥

× × × × क्रमशः

(श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीर जी के अनुसन्धान विभागकी ओर से)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

# सिंह-श्वान-समीक्षा

( पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री )

प्राणिशास्त्रके अनुसार सिंह और श्वान दोनों ही हिंसक एवं मांसाहारी प्राणी हैं। दोनों ही शिकारी जानवर माने जाते हैं और दोनोंके खाने-पीनेका प्रकार भी एक सा ही है। फिर भी जबसे लोगोंने कुत्तोंको पालना प्रारम्भ कर दिया, तबसे वह कृतज्ञ (वफादार) और उपयोगी जानवर माने जाना लगा है। पर सिंहको लोगोंने लाख प्रयत्न करनेपर भी—पिंजड़ोंमें और कठघरोंमें वर्षों तक बंद रखनेके बाद भी—आज तक पालतू, वफ़ादार और उपयोगी नहीं बना पाया है। सर्कसके भीतर हंटरके बलपर चाहे जैसा नाच नचाने पर भी न उसका स्वभाव बदला जा सका है और न खाना-पीना ही। जबकि लोगोंने कुत्तोंको रोटी खाना सिखाकर उसे बहुत कुछ अन्न-भोजी भी बना दिया है और उससे मेल-जोल बढ़ाकर उसे अपना दास, अंग-रक्षक और घरका पहरेदार तक बना लिया है। युद्धके समय इससे संदेश-वाहक (दूत) का भी काम लिया गया है और इसके द्वारा अनेक महत्वपूर्ण रहस्योंका उद्घाटन भी हुआ है। कुत्तेकी एक बड़ी विशेषता उसकी घ्राण-शक्ति की है, जिसके द्वारा वह चोर-साहूकार और भले-बुरे आदमी तकको पहिचान लेता है। सूंघ-सूंघ कर वह जमीनके भीतर गड़ी हुई वस्तुओंका भी पता लगा लेता है। इसके अतिरिक्त कुत्तेकी नींद बहुत हल्की होती है, जरा सी आहटसे वह जाग जाता है और रात भर घर-बारकी रक्षा करता रहता है। इस प्रकार कुत्ता हिंसक प्राणियोंमें मनुष्यका सबसे अधिक लाभ-दायक (फायदेमन्द), उपकारी और वफ़ादार प्राणी साबित हुआ है, और सिंह सदा इसके विपरीत ही रहा है।

कुत्तेके इतना कृतज्ञ, उपयोगी और उपकारक सिद्ध होने पर भी यदि कोई मनुष्य अपने हितैषी या उपकारकको कुत्तेकी उपमा देकर कह बैठे—'अजी, आप तो कुत्तेके समान हैं' तो देखिए, इसका उसपर क्या असर होता है ? लेने के देने पड़ जायंगे, आज तकके किये-करायेपर पानी फिर जायगा और वह आपकी जानका ग्राहक बन जायगा !!! पर इसके विपरीत स्वभाव वाले और मनुष्यके कभी काम न आने वाले सिंहकी उपमा देकर किसीसे कहिये—'अजी, आपतो सिंहके समान हैं' तो देखिए इसका उसपर क्या असर होता है ? वह आपके इस वाक्यको सुनते ही हर्षसे फूलकर कुप्पा हो जायगा, मूंछोंपर ताव देने लगेगा और गर्वका अनुभव करेगा तथा मनमें विचार करेगा, वाक़ई मैंने ऐसे-ऐसे कार्य किये हैं कि मैं इस उपमाके ही योग्य हूँ !

यहां मैं पाठकोंसे पूछना चाहता हूँ—क्या कारण है कि कुत्तेके इतने उपयोगी और फायदेमन्द होने पर भी लोग उसकी उपमा तकको पसंद नहीं करते, प्रत्युत मरने-मारनेको तैयार हो जाते हैं और जिससे मनुष्यका कोई लाभ नहीं, उसकी उपमा दिये जानेपर इतने अधिक हर्ष और गर्वका अनुभव करते हैं ? मालूम पड़ता है कि कुत्तेमें भले ही सैकड़ों गुण हों, पर कुछ एक ऐसे महान् अवगुण अवश्य हैं, जिससे उसके सारे गुण पासंग पर चढ़ जाते हैं और जिनके कारण लोग उसकी उपमाको पसंद नहीं करते। इसके विपरीत सिंहमें लाख अवगुण भले ही हों, पर कुछ-एक महान् गुण उसमें ऐसे अवश्य हैं, जिसके कि कारण लोग उसकी उपमा दिये जाने पर हर्ष और गर्वका अनुभव करते हैं।

सिंह और श्वान, इन दोनोंके स्वभावका सूक्ष्म अध्ययन करनेपर हमें उन दोनोंके इस महान् अन्तरका पता चलता है और तब यह ज्ञात होता है कि वास्तवमें इन दोनोंमें महान् अन्तर है और उसके ही कारण लोग एककी उपमाको पसन्द और दूसरेकी उपमाको नापसन्द करते हैं।

सिंह और श्वानमें सबसे बड़ा अन्तर आत्म-विश्वास का है। सिंहमें आत्मविश्वास इतना प्रबल होता है कि जिसके कारण वह अकेले ही सैकड़ों हाथियोंके साथ मुकाबिला करनेकी क्षमता रखता है। परन्तु कुत्तेमें आत्मविश्वासकी कमी होती है। वह अपने मालिकके भरोसे पर ही सामने वाले पर आक्रमण करता है। जब तक उसे अपने मालिक की ओरसे प्रोत्तेजन मिलता रहेगा, वह आगे बढ़ता रहेगा। आक्रमण करते हुए भी वह बार-बार मालिक-की ओर झांकता रहेगा और ज्योंही मालिकका प्रोत्ते-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जन मिलना बन्द होगा कि वह तुरन्त दुम दबा कर वापिस लौट आयेगा। पर सिंह किसी दूसरेके भरोसे शत्रु पर आक्रमण नहीं करता। आक्रमण करते हुए वह कभी किसीकी सहायताके लिए पीछे नहीं झांकता और शत्रसे हार कर तथा दुम दबा कर वापिस लौटना तो वह जानता ही नहीं। वह 'कार्यं वा साधयामि, देहं वा पातयामि' का महामन्त्र जन्मसे ही पढ़ा हुआ होता है। अपने इस अदम्य आत्मविश्वासके बल पर ही वह बड़े से बड़े जानवरों पर भी विजय पाता है और जंगलका राजा बनता है।

सिंह और श्वानमें दूसरा बड़ा अन्तर विवेकका है। कुत्तेमें विवेककी कमी स्पष्ट है। यदि कहीं किसी अपरिचित गलीसे आप निकलें, कोई कुत्ता आपको काटने दौड़े और आप अपनी रक्षाके लिए उसे लाठी मारें तो वह लाठीको पकड़ कर चबानेकी कोशिश करेगा। उस बेवकूफको यह विवेक नहीं है कि यह लाठी मुझे मारने वाली नहीं है। मारने वाला तो यह सामने खड़ा हुआ पुरुष है, फिर मैं इस लकड़ीको क्यों चबाऊँ। दूसरा अविवेकका उदाहरण लीजिये—कुत्तेको यदि कहीं हड्डीका टुकड़ा पड़ा हुआ मिल जाय तो यह उसे उठा कर चबायेगा और हड्डीकी तीखी नोकों से निकले हुए अपने ही मुखके खूनका स्वाद लेकर फूला नहीं समायेगा। वह समझता है कि यह खून इस हड्डीमेंसे निकल रहा है। पर सिंहका स्वभाव ठीक इससे विपरीत होता है। वह कभी हड्डी नहीं चबाता और न आक्रमण करने वालेकी लाठी, बन्दूक या भाला आदिको पकड़ कर ही उसे चबानेकी कोशिश करता है, क्योंकि उसे यह विवेक है कि ये लाठी, बन्दूक आदि जड़ पदार्थ मेरा स्वत: कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते; ये लाठी आदि मुझे मारने वाले नहीं, बल्कि इनका उपयोग करने वाला यह मनुष्य ही मुझे मारने वाला है। अपने इस विवेकके कारण वह लाठी आदिको पकड़ने या पकड़ कर उन्हें चबानेकी चेष्टा नहीं करता; प्रत्युत उनके चलाने वाले पर आक्रमण कर उसका काम तमाम कर देता है।

सिंह और श्वानमें एक और बड़ा अन्तर पुरुषार्थका है। कुत्तेमें पुरुषार्थकी कमी होती है, अतएव वह सदा रोटीके टुकड़ोंके लिये दूसरोंके पीछे पूंछ हिलाता हुआ फिरा करता है और टुकड़ोंका गुलाम बना रहता है। जब तक आप उसे टुकड़े डालते रहेंगे, आपकी गुलामी करेगा और जब आपने टुकड़े डालना बन्द किये और आपके शत्रुने टुकड़े डालना प्रारम्भ किये तभीसे वह उसकी गुलामी शुरू कर देगा। वह 'गंगा गये गङ्गादास और जमुना गये जमुनादास' की लोकोक्तिको चरितार्थ करता है। पर सिंह कभी भी रोटीका गुलाम नहीं है। वह पेट भरनेके लिये न दूसरोंके पीछे पूंछ हिलाता फिरता है और न कुत्तेके समान दूसरोंकी जूठी हड्डियाँ ही चाटा करता है। सिंह प्रति दिन अपनी रोटी अपने पुरुषार्थसे स्वयं उत्पन्न करता है। सिंहके विषयमें यह प्रसिद्धि है कि वह कभी भी दूसरोंके मारे हुए शिकारका हाथ नहीं लगाता। स्वतंत्र सिंहकी तो जाने दीजिये, पर कटघरों में बन्द सिंहोंके सामने भी जब उनका भोजन लाया जाता है तब वे भोजन-दाताकी ओर न तो दीनता-पूर्ण नेत्रों से ही देखते हैं; न कुत्तेके समान पूँछ हिलाते हैं और न जमीन पर पड़ कर अपना उदर दिखाते हुए गिड़गिड़ाते ही हैं। प्रत्युत इसके एक बार गम्भीर गर्जना कर मानो वे अपना विरोध प्रकट करते हुए यह दिखाते हैं कि अरे मानव? क्या तू मुझे अब भी टुकड़ोंके गुलाम बनाने का व्यर्थ प्रयास कर अपने को दातार होने का अहंकार करता है? कहने का अर्थ यह कि पराधीन और कठघरे में बन्द सिंह भी रोटी का गुलाम नहीं है, पर स्वतन्त्र और आजाद रहने वाला भी कुत्ता सदा टुकड़ोंका गुलाम हैं। कुत्तेको अपने पुरुषाथका भान नहीं, पर सिंह अपने पुरुषार्थसे खूब परिचित है और उसके द्वारा ही अपनी रोटी स्वयं उपार्जित करता है।

इस उपर्युक्त अन्तरके अतिरिक्त सिंह और श्वान में एक और महान् अन्तर है और वह यह कि कुत्ता 'जाति देख घुर्राऊ' स्वभावी है। अपने जाति वालोंको देखकर यह भौंकता, गुर्राता और काटनेको दौड़ता है। इससे अधिक नीचताकी और पराकाष्ठा क्या हो सकती है? पर सिंह कभी भी दूसरे सिंहको देख कर गुर्राता या काटनेको नहीं दौड़ता है, बल्कि जैसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक राजा दूसरे राजासे ससम्मान और गौरवके साथ मिलता है, ठीक उसी प्रकार दो सिंह परस्पर मिलते हैं। सिंहमें अपने सजातीय बन्धुओंके साथ वात्सल्य भाव भरा रहता है, जब कि कुत्ता ठीक इसके विपरीत है। उसमें स्वजाति वात्सल्यका नामोनिशान भी नहीं होता। स्वजाति वात्सल्यका गुण सर्वगुणोंमें सिरमौर है और उसके होनेसे सिंह वास्तवमें सिंह संज्ञाको सार्थक करता है और उसके न होनेसे कुत्ता 'कुत्ता' ही बना रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिंहमें आत्मविश्वास, विवेक पुरुषार्थशीलता और स्वजातिवत्सलता ये चार अनुपम जाज्वल्यमान गुण-रत्न पाये जाते हैं, जिनके प्रकाशमें उसके अन्य सहस्रों अवगुण नगण्य या तिरोभूत हो जाते हैं। इसके विपरीत कुत्तेमें आत्मविश्वासकी कमी, विवेकका अभाव, टुकड़ोंका गुलामीपना और स्वजाति-विद्वेष ये चार महा अवगुण पाये जानेसे उसके अनेकों गुण तिरोभूत हो जाते हैं। सिंहमें उक्त चार गुणोंके कारण ओज, तेज और शौर्यका अक्षय भण्डार पाया जाता है और ये ही उसकी सबसे बड़ी विशेषताएं हैं, जिनके कारण सिंहको उपमा दिये जाने पर मनुष्य हर्ष और गर्वका अनुभव करते हैं। कुत्तेमें हजारों गुण भले ही हों, पर उसमें उक्त चार महान् गुणोंकी कमी और उनके अभावसे प्रगट होने वाले चार महान् अवगुणोंके पाये जानेसे कोई भी कुत्तेकी उपमाको पसन्द नहीं करता। इस प्रकार यह फलितार्थ निकलता है कि सिंह और श्वानमें आकाश-पाताल जैसा महान् अन्तर है।

ठीक यही अन्तर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिमें है। सम्यक्त्वी सिंहके समान है और मिथ्यात्वी कुत्तेके समान। सम्यक्त्वीमें सिंहके उपर्युक्त चारों गुण पाये जाते हैं। आत्मविश्वाससे यह सदा निःशंक और निर्भयरहता है। विवेक प्रगट होनेसे वह अमूढ़दृष्टि या यथाथदर्शी बन जाता है। पुरुषार्थके बलसे वह आत्मनिर्भर रहता है और साजातीय-वात्सल्यसे तो वह लबालब भरा ही रहता है। सम्यक्त्वी स्वभावतः अपने सजातीय या साधर्मीजनोंसे 'गो वत्स' सम प्रेम करता है। पर मिथ्यात्वी सदा सजातियोंसे जला ही करता है, उनके उत्कर्षको देखकर कुढ़ता है और अवसर आने पर उन्हें गिराने और अपमानित करनेसे नहीं चूकता।

इन गुणोंके प्रकाशमें यदि सम्यक्त्वीके चारित्र-मोहके उदयसे अविरति-जनित अनेकों अवगुण पाये जाते हैं, तो भी वे उक्त चारों अनुपम गुण-रत्नोंके प्रकाशमें नगण्यसे हो जाते हैं। इसके विपरीत मिथ्यात्वीमें दया, क्षमा, विनय, नम्रता आदि अनेक गुणोंके पाये जाने पर भी आत्मविश्वासकी कमी से वह सदा सशंक बना रहता है, विवेकके अभावसे उस पर अज्ञानका पर्दा पड़ा रहता है और इसलिए वह निस्तेज एवं हतप्रभ होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना रहता है, पुरुषार्थकी कमीके कारण वह सदा टुकड़ोंका गुलाम और दूसरोंका दास बना रहता है तथा स्वजाति-विद्वेषके कारण वह घर-घरमें दुतकारा जाता है।

हमें श्वानवृत्ति छोड़कर अपने दैनिक व्यवहारमें सिंहवृत्ति स्वीकार करना चाहिए।

## शंका-समाधान

शंका – जबकि सिंह और श्वान दोनों मांसाहारी और शिकारी जनवर हैं, तब फिर इन दोनोंमें उपर्युक्त आकाश-पाताल जैसे महान् अन्तर उत्पन्न होनेका क्या कारण है ?

समाधान—इसके दो कारण हैं :— एक अन्तरंग और दूसरा बहिरंग। अन्तरंग कारण तो सिंह और श्वान नामक पंचेन्द्रिय जातिनामकर्मका उदय है और बहिरंग कारण बाहिरी संगति, मनुष्योंका सम्पर्क एवं तदनुकूल अन्य वातावरण है। अन्तरंग कारण कर्मोदयके समान होने पर भी जिन्हें मनुष्यके द्वारा पाले जाने आदि बाह्य कारणोंका योग नहीं मिलता, वे जंगली कुत्ते आज भी भारी खूंख्वार और भयानक देखे जाते हैं जिन्हें लोग 'शुना कुत्ता' कहते हैं। 'शुना शब्द 'श्वान' का ही अपभ्रंश रूप है जो आज भी अपने इस मूल नामके द्वारा स्वकीय असली रूप—खूंख्वारताका परिचय दे रहा है। मनुष्योंने इसे पाल-पुचकारके उसे उसकी स्वाभाविक शक्तिसे बेभान करा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिया और रोटीके टुकड़े खिला २ कर उसे 'दोगला'* बना दिया है।

शंका—बहिरंग कारण और उनका असर तो समझ में आया, पर यह सिंह या श्वान नामक नाम-कर्मके उदयरूप अन्तरंगकारण क्या वस्तु है ?

समाधान—जो कारण बाहिर में दृष्टिगोचर न हो सके, पर अन्तरंगमें—भीतर आत्माके ऊपर अपना सूक्ष्म असर डाले, उसे अन्तरंग कारण कहते हैं। जीव अपनी भली-बुरी नाना प्रकारकी हरकतोंसे अपने आत्मा पर जो संस्कार डाल लेता है, उसे जैन शास्त्रों-की परिभाषामें 'कर्म' कहते हैं और वही कर्म संचित संस्कारोंका फल देनेके लिए अन्तरंग कारण है।

शंका—वे ऐसे कौनसे संस्कार हैं, जिनके कारण जीव सिंह और श्वान नामक कर्मको उपार्जन करता है और उनके उदयसे सिंह और कुत्तेकी पर्यायको धारण करता है ?

समाधान—पशुओंमें उत्पन्न होनेका प्रधान कारण 'मायाचार' है। सिंह और श्वान दोनों ही पशु हैं, अतः यह स्वतः सिद्ध है कि दोनोंने पूर्वभवमें भरपूर मायाचार किया है। मनमें कुछ और रखना, वचनसे कुछ और कहना, तथा काम कुछ और ही करना, यह मायाचार कहलाता है। यह मायाचार कोई प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिए करता है, कोई धन कमानेके लिए और कोई व्यभिचार आदि अन्य मतलब हल करनेके लिए। धनको ग्यारहवां प्राण कहा गया है जो माया-चार करके दूसरेके धनको हड़प करते हैं, वे मांस-भक्षी या छोटे-मोटे जीवोंको जिन्दा हड़प जाने वाले जानवरोंमें पैदा होते हैं। सिंह और श्वान दोनों ही मांस-भक्षी हैं, पर इनका पूर्वभवमें मायाचार धन-विषयक रहा, ऐसा जानना चाहिए। जो जीव सामने जाहिरमें-तो धनियोंकी खुशामद करते हैं और अवसर पातेही पीछे से उसके धनको चुरा लेते हैं, या लिए हुए, और अमा-नत रखे धनको हड़प कर जाते हैं, या हड़प करनेको भावना रखते हुए भी कभी-कभी अमानत रखनेवाले-को व्याज या सहायता आदिके रूपमें कुछ तांबेके टुकड़े देते रहते हैं, वे तो कुत्तोंके संस्कार अपनी आत्मापर डालते हैं। किन्तु जो दूसरेके धनको चुराने या हड़प करनेके लिए न सामने खुशामद ही करते हैं और न पीछे धन ही चुराते हैं, किन्तु दिनभर तो स्वाभिमान-का बाना पहने अपने घरोंमें पड़े रहते हैं और रातको शस्त्रोंसे लैस होकर दूसरों पर डाका डालते हैं, वे जीव शेर, चीते, सिंह आदि जानवरोंमें उत्पन्न होनेका कर्म उपार्जन करते हैं। जो मायाचार करते हुए अपने सजातीयोंका उत्कर्ष नहीं देख सकते उन्हें नीचा दिखाने मारने और काटनेको दौड़ते हैं वे कुत्तेका कर्म संचय करते हैं किन्तु जो उक्त प्रकारका मायाचार करते हुए भी अपने सजातीयोंका सन्मान करते हैं। उन्हें काटने नहीं दौड़ते, पेटके लिए दूसरोंकी खुशामद नहीं करते, दूसरोंके इशारोंपर नहीं नाचते भले बुरेका स्वयं विवेक रखते हैं और आत्मनिर्भर रहते हैं, वे सिंह नामक नामकर्मको उपार्जन करते हैं।

* दोगलाका अर्थ है, दो प्रकारका गला। पशु स्वभावतः दो जातिके होते हैं—शाकाहारी और मांसाहारी। कुत्ता स्वभावतः मांसाहारी है, पर मनुष्योंके संसर्गसे अन्नभोजी भी हो गया। अन्नभोजी फल तथा घासाहारी जीवोंकी गणना शाकाहारियोंमें ही की जाती है। कुत्ता मांसाहारियोंके साथ मांस भी खा लेता है और मनुष्योंके साथ अन्न भी खा लेता है, इस प्रकार परस्पर विरोधी दो भक्ष्य पदार्थोंको अपने गलेके नीचे उतारनेके कारण वह 'दोगला' कहलाता कहलाता है।

# समाजसे निवेदन

'अनेकान्त' जैन समाजका एक साहित्यिक और ऐतिहासिक सचित्र मासिक पत्र है। उसमें अनेक खोजपूर्ण पठनीय लेख निकलते रहते हैं। पाठकोंको चाहिये कि वे ऐसे उपयोगी मासिक पत्रके ग्राहक बनकर, तथा संरक्षक या सहायक बनकर उसको समर्थ बनाएं। हमें दो सौ इक्यावन तथा एक सौ एक रुपया देकर संरक्षक व सहायक श्रेणीमें नाम लिखाने वाले केवलदो सौ सज्जनोंकी आव-श्यकता है। आशा है समाजके दानी महानुभाव एक सौ एक रुपया प्रदानकर सहायकश्रेणीमें अपना नाम अवश्य लिखाकर साहित्य-सेवामें हमारा हाथ बटायंगे। —मैनेजर 'अनेकान्त'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

# ग्रन्थोंकी खोजके लिये

# ६००) रु० के छह पुरस्कार

जो कोई भी सज्जन निम्न-लिखित जैनग्रंथोंमें से, जिनका उल्लेख तो मिलता है परन्तु वे अभी तक उपलब्ध नहीं हो रहे हैं, किसी भी ग्रन्थकी, किसी भी जैन-अजैन शास्त्रभण्डार अथवा लायब्रेरीसे खोज लगा कर सर्व प्रथम सूचना नीचे लिखे पते पर देनेकी कृपा करेंगे और फिर बाद-को ग्रन्थकी शुद्ध कापी भी देवनागरी लिपिमें भेजेंगे या खुद कापीका प्रबन्ध न कर सकें तो मूल ग्रन्थ ही कापी अथवा फोटोके लिये वीरसेवामन्दिरको भिजवाएँगे तो उन्हें, ग्रंथका ठीक निश्चय हो जाने पर, पुरस्कारकी वह रकम भेंट की जायगी जो प्रत्येक ग्रन्थके लिये १००) रु० की निर्धारित की गई है। ग्रन्थ सब संस्कृत-भाषाके हैं।

उक्त सूचनाके साथमें ग्रन्थके मंगलाचरण तथा प्रशस्ति (अन्तभाग) की और एक सन्धिकी भी (यदि संधियाँ हो तो) नकल आनी चाहिये। यदि सूचना तार-द्वारा दी जाय तो उक्त नकल उसके बाद ही डाक रजिस्टरीसे भेज देनी चाहिये। ऐसी स्थितिमें तार मिलनेका समय ही सूचना-प्राप्तिका समय समझा जायगा। सूचना की अन्तिम अवधि फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा संवत् २०११ तक है।

किसी ग्रंथकी श्लोकसंख्या यदि २०० से ऊपर हो तो कुल कापीकी उजरत पुरस्कारकी रकमसे अलग दी जाएगी और वह दस रुपए हज़ारके हिसाबसे होगी। मूल ग्रन्थ प्रतिके हिंन्दी लिपिमें देखनेको आजानेसे कापी भेजनेकी जिम्मेदारी समाप्त हो जायगी। तब कापीका प्रबन्ध वीरसेवामंदिर-द्वारा हो जायगा।

## खोजके ग्रन्थोंका परिचय

(१) जीव-सिद्धि—यह ग्रंथ स्वामी समन्तभद्रका रचा हुआ है और उनके युक्त्यनुशासनकी जोड़का ग्रन्थ है। श्री जिनसेनाचार्यने हरिवंशपुराणके निम्न पद्यमें इसे भी भगवान् महावीरके वचनों जैसा महत्वशाली बतलाया है—

जीवसिद्धि-विधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥

(२) तत्त्वानुशासन—यह ग्रन्थ भी स्वामि-समन्तभद्र-कृत है और रामसेनकृत उस तत्त्वानुशासनसे भिन्न है जो नागसेनके नामसे माणिकचन्दग्रन्थमालामें छपा है। इसका उल्लेख 'दिगम्बर जैनग्रन्थ-कर्ता और उनके ग्रन्थ' नामकी सूचीके अतिरिक्त, जो अनेक ग्रन्थसूचियों पर से बनी है, 'जैन ग्रन्थावली' में भी पाया जाता है, जिसमें वह सूरतके उन सेठ भगवानदास कल्याणदासजीकी प्राइवेट रिपोर्टसे लिया गया है जो कि पिटर्सन साहबकी नौकरीमें थे। 'नियमसार' की पद्मप्रभ-मलधारि देव-कृत-टीकामें 'तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने' इस वाक्यके साथ नीचे लिखा पद्य उद्धृत किया गया है, जो रामसेनके उक्त तत्त्वानुशासनमें नहीं है, न ग्रन्थसन्दर्भकी दृष्टिसे उसका हो सकता है तथा विषय-वर्णनकी दृष्टिसे बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, और इसलिये सम्भवतः स्वामीजीके तत्त्वानुशासनका ही जान पड़ता है:—

उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणम्।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥

(३) सन्मति-सूत्रकी दो टीका—सिद्धसेनाचार्यका सन्मति-सूत्र नामका एक प्राकृत ग्रन्थ है, जिस पर दो खास संस्कृत टीकाएँ अभी तक अनुपलब्ध हैं—एक दिगम्बराचार्य सन्मति या सुमतिदेवकी रचना है और दूसरी श्वेताम्बराचार्य मल्ल-वादी की। दिगम्बराचार्यकी टीकाका उल्लेख वादिराजसूरिके पार्श्वनाथचरितमें और श्वेताम्बराचार्यकी टीकाका उल्लेख हरिभद्रकी अनेकान्तजयपताका तथा यशोविजयके अष्ट-सहस्री-टिप्पणमें निम्न प्रकार पाया जाता है:—

'नमः सन्मतये तस्मै भवकूप-निपातिनाम्।
सन्मतिर्विवृता येन सुखधाम-प्रवेशिनी ॥
(पार्श्वनाथचरित)

'उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ।'
(अनेकान्त जय०)

'इहार्थे कोटिशा भंगा निर्दिष्टा मल्लवादिना।
मूल-सम्मति-टीकायामिदं दिङ्मात्रदर्शनम् ॥
(अष्टसहस्री-टि०)

(४) तत्त्वार्थसूत्र-टीका (तत्त्वार्थालंकार) शिवकोटि-आचार्यकृत—श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ (२५४) के निम्न पद्यसे इस टीकाका पता चलता है और इसमें प्रयुक्त हुआ 'एतत्' शब्द इस बातको सूचित करता है कि यह पद्य उक्त टीका परसे ही उद्धृत किया गया है, जिसे समन्तभद्रके शिष्य शिवकोटिकी कृति बतलाया गया है—

तस्यैव शिष्यः शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
संसार-वाराकर-पोतमेतत् तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(५) त्रिलक्षणकदर्थन—यह ग्रंथ स्वामी पात्रकेसरीका रचा हुआ है। श्रवणबेल्गोलके मल्लिषेणप्रशस्ति नामक शिलालेख नं० ५४ (६७), सिद्धिविनिश्चय-टीका और न्याय विनिश्चय-विवरणमें इसका उल्लेख है। वादिराजसूरिने न्याय-विनिश्चय-विवरणमें लिखा है—

'त्रिलक्षणकदर्थने वा शास्त्रे विस्तरेण श्रीपात्र-केसरि-स्वामिना प्रतिपादनादित्यलमभिनिवेशेन।'

## आवश्यक निवेदन—

इन ग्रन्थोंके उपलब्ध होनेपर साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान-विषयक क्षेत्रपर बड़ा प्रकाश पड़ेगा और अनेक उलझी हुई गुत्थियाँ स्वतः सुलझ जाएँगी। इसीसे वर्तमानमें इनकी खोज होनी बहुत ही आवश्यक है। अतः सभी विद्वानोंको—खासकर जैनविद्वानोंको—इनकी खोजके लिये शीघ्र ही पूरा प्रयत्न करना चाहिये, सारे शास्त्रभण्डारोंकी अच्छी छान-बीन होनी चाहिये। उन्हें पुरस्कारकी रकमको न देखकर यह देखना चाहिये कि इन ग्रन्थोंकी खोज-द्वारा हम देश और समाजकी बहुत बड़ी सेवा कर रहे हैं। ऐसी सेवाओंका वास्तवमें कोई मूल्य नहीं होता—पुरस्कार तो आदर-सत्कार एवं सम्मान व्यक्त करनेका एक चिन्ह मात्र है। वे तो जिस ग्रंथकी भी खोज लगाएंगे उसके 'उद्धारक' समझे जाएंगे।

जो सज्जन पुरस्कारके अधिकारी होकर भी पुरस्कार लेना नहीं चाहेंगे उनके पुरस्कारकी रकम साहित्यिक शोध-खोजके विभागमें जमा की जायगी और वह उनकी ओरसे किसी दूसरे ग्रंथकी खोजके काममें लगाई जायगी। साथ ही उनका नाम उस ग्रन्थके 'उद्धारक' रूपमें प्रकाशित किया जायगा।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'
१, दरियागंज, दिल्ली

नोट—दूसरे पत्र-सम्पादकोंसे निवेदन है कि वे भी इस विज्ञप्तिको अपने-अपने पत्रमें प्रकाशित करनेकी कृपा करें।

# वीर सेवामन्दिरको सहायता

आचार्य श्री नमिसागरजीकी प्रेरणा आदिको पाकर वीरसेवामन्दिरको उसके साहित्यिक तथा ऐतिहासिक कामोंके लिए जिन सज्जनोंसे जो सहायता प्राप्त हुई है उसकी सूची निम्न प्रकार है:

१००१) ला० प्यारे लालजी सर्राफ, सब्जी मंडी देहली
५५१) अखिल भा० दि० जैन केन्द्रीय महा समिति ,,
५००) लाला रतनलाल सुकमाल चन्दजी, मेरठ
५००) डा० उत्तमचन्दजी, अम्बाला छावनी
३००) लाला मोतीलालजी, ६४ दरियागंज; देहली
२०१) ला० खजानसिंह विमलप्रसादजी मंसूरपुर
१०१) ला० हरिश्चन्द्र जी, देहली-सहादरा
१०१) लाला होशयारसिंह शीतलप्रसाद जी मंसूरपुर
१०१) धर्मपत्नी ला० शिखरचन्दजी देहली
१०१) ला० रामप्रसाद जी पंसारी, देहली
१०१) ला० ज्योतिप्रसाद श्रीपालजी टाइप वाले देहली
१००) ला० नेमचन्द्र जी मंगलौर
८५) धर्मपत्नी लाला सुमेरचन्द्र जी खजांची देहली
५१) लाला जयन्तीप्रसादजी देहली
२५) ला० रामकरनदासजी, बहादुरगंज मण्डी
२५) ला० धूमसेन महावीरप्रसादजी कटरा सत्यनारायण देहली
२५) श्रीमती राजकली देवी अम्बहटा (सहारनपुर)
२५) ला० दाताराम जी, ७ दरियागंज देहली,
२५) ला० रघुवीरसिंह जी, बहादुरगंज मण्डी, फर्म ला० केदारनाथ चन्द्रभान जी
२१) श्री विजयरत्न जी
१०) अज्ञात, मार्फत ला० ज्योतिप्रसादजी टाइप वाले
५) श्रीमती तारादेवी
५) ला० शिखरचन्दजी सब्जीमण्डी देहली

निवेदक
**राजकृष्ण जैन**
व्यवस्थापक वीरसेवा-मन्दिर

Jain Education International　　For Personal & Private Use Only　　www.jainelibrary.org

# सकाम धर्मसाधन

लौकिक-फलकी इच्छाओंको लेकर जो धर्मसाधन किया जाता है उसे 'सकाम धर्मसाधन' कहते हैं और जो धर्म वैसी इच्छाओंको साथमें न लेकर, मात्र आत्मीय कर्तव्य समझकर किया जाता है उसका नाम 'निष्काम धर्मसाधन' है। निष्काम धर्मसाधन ही वास्तवमें धर्मसाधन है और वही वास्तविक-फलको फलता है। सकाम धर्मसाधन धर्मको विकृत करता है, सदोष बनाता है और उससे यथेष्ट धर्म-फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रत्युत इसके, अधर्मकी और कभी कभी घोर पाप-फलकी भी प्राप्ति होती है। जो लोग धर्मके वास्तविक स्वरूप और उसकी शक्तिसे परिचित नहीं, जिनके अन्दर धैर्य नहीं, श्रद्धा नहीं, जो निर्बल हैं—कमजोर हैं, उतावले हैं और जिन्हें धर्मके फल पर पूरा विश्वास नहीं, ऐसे लोग ही फल-प्राप्तिमें अपनी इच्छाकी टाँगें अड़ा कर धर्मको अपना कार्य करने नहीं देते—उसे पंगु और बेकार बना देते हैं, और फिर यह कहते हुए नहीं लजाते कि धर्म-साधनसे कुछ भी फलकी प्राप्ति नहीं हुई। ऐसे लोगोंके समाधानार्थ—उन्हें उनकी भूलका परिज्ञान करानेके लिए ही यह लेख लिखा जाता है, और इसमें आचार्य-वाक्योंके द्वारा ही विषयको स्पष्ट किया जाता है।

श्रीगुणभद्राचार्य अपने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थमें लिखते हैं:—

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणे पि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥२२॥

अर्थात्—फलप्रदानमें कल्पवृक्ष संकल्पकी और चिन्तामणि चिन्ताकी अपेक्षा रखता है—कल्पवृक्ष बिना संकल्प किये और चिन्तामणि विना चिन्ता किये फल नहीं देता; परन्तु धर्म वैसी कोई अपेक्षा नहीं रखता—वह बिना संकल्प किए और बिना चिन्ता किए ही फल प्रदान करता है।

जब धर्म स्वयं ही फल देता है और फल देनेमें कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणिकी शक्तिको भी मात (परास्त) करता है, तब फल-प्राप्तिके लिए इच्छाएं करके—निदान बांधकर—अपने आत्माको व्यर्थ ही संक्लेशित और आकुलित करनेकी क्या जरूरत है? ऐसा करनेसे तो उल्टा फल-प्राप्तिके मार्गमें कांटे बोए जाते हैं। क्योंकि इच्छा फल-प्राप्तिका साधन न होकर उसमें बाधक है।

इसमें सन्देह नहीं कि धर्म-साधनसे सब सुख प्राप्त होते हैं; परन्तु तभी तो जब धर्मसाधनमें विवेकसे काम लिया जाय। अन्यथा, क्रियाके—बाह्य धर्माचरणके—समान होने पर भी एकको बन्ध फल दूसरेको मोक्षफल अथवा एकको पुण्यफल और दूसरेको पापफल क्यों मिलता है? देखिये, कर्मफलकी इस विचित्रताके विषयमें श्रीशुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें क्या लिखते हैं—

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पण्डितः।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद्ध्रुवम् ॥७२१॥

अर्थात्—जिस मार्ग पर अज्ञानी चलता है उसी पर ज्ञानी चलता है। दोनोंका धर्माचरण समान होने पर भी अज्ञानी अपने अविवेकके कारण कर्म बाँधता है और ज्ञानी अपने विवेक द्वारा कर्म-बन्धनसे छूट जाता है। ज्ञानार्णवके निम्न श्लोकमें भी इसी बातको पुष्ट किया गया है—

वेष्टयत्यात्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनैः।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥७१७॥

इससे विवेक पूर्वक आचरणका कितना बड़ा माहात्म्य है उसे बतलानेकी अधिक जरूरत नहीं रहती।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, अपने प्रवचनसारके चारित्राधिकारमें, इसी विवेकका — सम्यग्ज्ञानका — माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥३८॥

अर्थात्—अज्ञानी–अविवेकी मनुष्य जिस अथवा जितने ज्ञानावरणादिरूप कर्मसमूहको शत-सहस्र कोटि भवोंमें—करोड़ों जन्म लेकर—क्षय करता है उस अथवा उतने कर्म-समूहको ज्ञानी–विवेकी मनुष्य मन-वचन-कायकी क्रियाका निरोध कर अथवा उसे स्वाधीनकर स्वरूपमें लीन हुआ उच्छ्वासमात्रमें—लीलामात्रमें—नाश कर डालता है।

इससे अधिक विवेकका माहात्म्य और क्या हो सकता है? यह विवेक ही चारित्रको 'सम्यक्चारित्र' बनाता है और संसार-परिभ्रमण एवं उसके दुःख कष्टोंसे मुक्ति दिलाता है। विवेकके बिना चारित्र मिथ्याचारित्र है, कोरा कायक्लेश है और वह संसार-परिभ्रमण तथा दुःख-परम्पराका ही कारण है। इसीसे विवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके अनन्तर चारित्रका आराधन बतलाया गया है; जैसा कि श्रीअमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रगट है—

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥ ३८ ।
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—अज्ञानपूर्वक—विवेकको साथमें न लेकर दूसरोंकी देखा-देखी अथवा कहने-सुनने मात्रसे—जो चरित्र-का अनुष्ठान किया जाता है वह 'सम्यक् चारित्र' नाम नहीं पाता—उसे 'सम्यक् चारित्र' नहीं कहते। इसीसे (आगममें) सम्यग्ज्ञानके अनन्तर—विवेक हो जाने पर—चारित्रके आराधनका—अनुष्ठानका—निर्देश किया गया है—रत्नत्रय धर्मकी आराधनामें, जो मुक्तिका मार्ग है, चारित्रकी आराधनाका इसी क्रमसे विधान किया गया है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, प्रवचनसारमें, 'चारित्तं खलुधम्मो' इत्यादि वाक्यके द्वारा जिस चारित्रको—स्वरूपाचरणको-वस्तु-भाव होनेकेकारण धर्म बतलाया है वह भी यही विवेकपूर्वक सम्यक्-चारित्र है, जिसका दूसरा नाम साम्यभाव है और जो मोह-क्षोभ अथवा मिथ्यात्व राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादिरूप विभावपरिणतिसे रहित आत्माका निज परिणाम होता है ※।

वास्तवमें यह विवेक ही उस भावका जनक होता है जो धर्माचरणका प्राण कहा गया है। बिना भावके तो क्रियाएं फलदायक होती ही नहीं है। कहा भी है—

"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः×।"

तदनुरूप भावके बिना पूजनादिककी, तप-दान-जपादिककी और यहां तक कि दीक्षाग्रहणादिककी सब क्रियाएँ भी ऐसी ही निरर्थक हैं जैसेकि बकरीके गलेके स्तन (थन), अर्थात् जिस प्रकार बकरी के गलेमें लटकते हुए स्तन देखनेमें स्तनाकार होते हैं, परंतु वे स्तनोंका कुछ भी काम नहीं देते—उनसे दूध नहीं निकलता—उसी प्रकार बिना तदनुकूल भावके पूजा-तप-दान-जपादिककी उक्त सब क्रियाएँ भी देखनेकी ही क्रियाएँ होती हैं, पूजादिकका वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता †।

ज्ञानी विवेकी मनुष्य ही यह ठीक जानता है कि पुण्य किन भावोंसे बँधता है, किनसे पाप और किनसे दोनोंका बन्ध नहीं होता? स्वच्छ, शुभ तथा शुद्ध भाव किसे कहते हैं? और अस्वच्छ, अशुद्ध तथा अशुभ भाव किसका नाम है? सांसारिक विषय-सौख्यकी तृष्णा अथवा तीव्र कषायके वशीभूत हो कर जो पुण्य-कर्म करना चाहता है वह वास्तवमें पुण्यकर्मका सम्पादन कर सकता है या कि नहीं? और ऐसी इच्छा धर्म-की साधक है या बाधक? वह खूब समझता है कि सकाम धर्मसाधन मोह-क्षोभादिसे घिरा रहनेके कारण धर्मकी कोटिसे निकल जाता है; धर्म वस्तुका स्वभाव होता है और इसलिये कोई भी विभाव परिणति धर्मका स्थान नहीं ले सकती। इसीसे वह अपनी धार्मिक क्रियाओंमें तद्रूपभावकी योजना-द्वारा प्राणका संचार करके उन्हें सार्थक और सफल बनाता है। ऐसे ही विवेकी जनोंके द्वारा अनुष्ठित धर्मको सब-सुख-का कारण बतलाया है। विवेककी पुट बिना अथवा उसके सहयोगके अभावमें मात्र कुछ क्रियाओंके अनुष्ठानका नाम ही धर्म नहीं है। ऐसी क्रियाएँ तो जड़ मशीनें भी कर सकती हैं। और कुछ करती हुई देखी भी जाती है—फोनोग्राफके कितने ही रिकार्ड खूब भक्ति-रसके भरे हुए गाने तथा भजन गाते हैं और शास्त्र पढ़ते हुए भी देखने में आते हैं। और भी जड़मशीनोंसे आप जो चाहें धर्मकी बाह्य क्रियाएँ करा सकते हैं। इन सब क्रियाओंको करके जड़मशीनें जिस प्रकार धर्मात्मा नहीं बन सकतीं और न धर्मके फलको ही पा सकती हैं, उसी प्रकार अविवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके बिना धर्मकी कुछ क्रियाएँ कर लेने मात्रसे ही कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता और न धर्मके फलको ही पा सकता है। ऐसे अविवेकी मनुष्यों और जड़ मशीनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता—उनकी क्रियाओंको सम्यक्चारित्र न कह कर 'यांत्रिक चारित्र' कहना चाहिये। हां, जड़मशीनोंकी अपेक्षा ऐसे मनुष्योंमें मिथ्याज्ञान तथा मोहकी विशेषता होनेके कारण वे उसके द्वारा पाप-बन्ध करके अपना अहित ज़रूर कर लेते हैं—जब कि जड़मशीनें वैसा नहीं कर सकतीं। इसी यांत्रिक चारित्रके भुलावेमें पड़कर हम अक्सर भूले रहते हैं और यह समझते रहते हैं कि इनने धर्मका अनुष्ठान कर लिया! इसी तरह करोड़ों जन्म निकल जाते हैं और करोड़ों वर्षकी बाल-तपस्यासे भी उन कर्मोंका नाश नहीं हो पाता, जिन्हें एक ज्ञानी पुरुष त्रियोगके संसाधन-पूर्वक क्षणमात्रमें नाश कर डालता है। अस्तु।

इस विषयमें स्वामी कार्तिकेयने, अपने अनुप्रेक्षा ग्रन्थमें, कितना ही प्रकाश डाला है। उनके निम्न वाक्य ख़ास तौरसे

---

※ चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

× देखो, कल्याणमन्दिरस्तोत्रका 'आकर्णितोऽपि' आदि पद्य।

†भावहीनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकण्ठे स्तनानिव ॥"

ध्यान देने योग्य हैं :—

कम्मं पुण्णं पावं हेऊ तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु॥
जीवो वि हवइ पावं अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्चं।
जीवो हवेइ पुण्णं उवसमभावेण संजुत्तो॥
जोअहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि॥
पुण्णासएण पुण्ण जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह॥
पुण्णं बंधदि जीवो मंदकसाएहिं परिणदो संतो।
तम्हा मंदकसाया हेऊ पुण्णस्स ण हि वंछा॥

—गाथा नं० ६०, १६०, ४१० से ४१२

इन गाथाओंमें बतलाया है कि—'पुण्य कर्मका हेतु स्वच्छ, ( शुभ परिणाम है और पाप कर्मका हेतु अस्वच्छ ( अशुभ या अशुद्ध ) परिणाम। मंदकषायरूप परिणामोंको स्वच्छ परिणाम और तीव्रकषायरूप परिणामोंको अस्वच्छ परिणाम कहते हैं। जो जीव अतितीव्र कषायसे परिणत होता है, वह पापी होता है और जो उपशमभावसे—कषायकी मंदतासे—युक्त रहता है वह पुण्यात्मा कहलाता है। जो जीव कषायभावसे युक्त हुआ विषयसौख्यकी तृष्णासे—इंद्रिय-विषयको अधिकाधिक रूपमें प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छासे पुण्य करना चाहता है—पुण्य क्रियाओंके करनेमें प्रवृत्त होता है—उससे विशुद्धि बहुत दूर रहती हैं और पुण्य-कर्म विशुद्धिमूलक-चित्तकी शुद्धि पर आधार रखने वाले होते हैं। अतः उनके द्वारा पुण्यका सम्पादन नहीं हो सकता—वे अपनी उन धर्मके नामसे अभिहित होनेवाली क्रियाओंको करके पुण्य पैदा नहीं कर सकते। चूंकि पुण्यफलकी इच्छा रखकर धर्मक्रियाओंके करनेसे—सकाम धर्मसाधनसे—पुण्य-की सम्प्राप्ति नहीं होती, बल्कि निष्काम-रूपसे धर्मसाधन करने वालेके ही पुण्यकी संप्राप्ति होती है, ऐसा जानकर पुण्य-में भी आसक्ति नहीं रखना चाहिए। वास्तवमें जो जीव मंद कषायसे परिणित होता है वही पुण्य बांधता है, इस लिये मन्दकषाय ही पुण्यका हेतु है, विषयवांछा पुण्यका हेतु नहीं —विषयवांछा अथवा विषयासक्ति तीव्रकषायका लक्षण है और उसका करने वाला पुण्यसे हाथ धो बैठता है।

इन वाक्योंसे स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म-साधनके द्वारा अपने विषय-कषायोंकी पुष्टि एवं पूर्ति चाहता है उसकी कषाय मन्द नहीं होती और न वह धर्मके मार्ग पर स्थिर ही होता है। इसलिए उसके द्वारा वीतराग भगवान्की पूजा-भक्ति-उपासना तथा स्तुतिपाठ, जप-ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय, तप, दान और व्रत-उपवासादिरूपसे जो भी धार्मिक क्रियाएँ बनती हैं वे सब उसके आत्मकल्याणके लिए नहीं होतीं—उन्हें एक प्रकारकी सांसारिक दुकानदारी ही समझना चाहिए। ऐसे लोग धार्मिक क्रियाएं करके भी पाप उपार्जन करते हैं और सुखके स्थानमें उल्टा दुखको निमन्त्रण देते हैं। ऐसे लोगोंकी इस परिणतिको श्री शुभचन्द्राचार्यने, ज्ञानार्णवग्रन्थके २५वें प्रकरणमें, निदान-जनित आर्त्तध्यान लिखा है और उसे घोर दुःखोंका कारण बतलाया है। यथा—

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां,
यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात्।
पूजा सत्कार-लाभ-प्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः
स्यादार्त्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधामं॥

अर्थात् —अनेक प्रकारके पुण्यानुष्ठानोंको—धर्म कृत्योंको करके जो मनुष्य तीर्थंकरपद तथा दूसरे देवोंके किसी पदकी इच्छा करता है अथवा कुपित हुआ उन्हीं पुण्याचरणोंके द्वारा शत्रुकुल-रूपी वृक्षोंके उच्छेदकी वांछा करता है, और या अनेक विकल्पोंके साथ उन धर्म-कृत्योंको करके अपनी लौकिक पूजाप्रतिष्ठा तथा लाभादिककी याचना करता है, उसकी यह सब सकाम प्रवृत्ति 'निदानज' नामका, आर्त्तध्यान है। ऐसा आर्त्तध्यान मनुष्योंके लिए दुःख-दावानलका अग्र-स्थान होता है—उससे महादुःखोंकी परम्परा चलती है।

वास्तवमें आर्त्तध्यानका जन्म ही संक्लेश परिणामोंसे होता है, जो पाप बन्धके कारण हैं। ज्ञानार्णवके उक्त प्रकरणान्तर्गत निम्न श्लोकमें भी आर्त्तध्यानको कृष्ण-नील-कापोत ऐसी तीन अशुभ लेश्याओंके बल पर ही प्रकट होने वाला लिखा है और साथ ही यह सूचित किया है कि यह आर्त्तध्यान पाप,रूपी दावानलको प्रज्वलित करनेके लिए इन्धनके समान है—

कृष्ण नीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते।
इदं दुरितदावार्चिः प्रसूतेरिन्धनोपमम्॥४०॥

इससे स्पष्ट है कि लौकिक फलोंकी इच्छा रखकर धर्म-साधन करना धर्माचरणको दूषित और निष्फल ही नहीं बनाता, बल्कि उल्टा पापबन्धका कारण भी होता है, और इसलिए हमें इस विषयमें बहुतही सावधानी रखनेकी ज़रूरत है। हमारा सम्यक्त्व भी इससे मलिन और खण्डित होता है। सम्यक्त्वके आठ अंगोंमें निःकांक्षित नामका भी एक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अंग है, जिसका वर्णन करते हुए श्रीअमितगति आचार्य उपासकाचारके तीसरे परिच्छेदमें साफ़ लिखते हैं—

विधीयमानाः शम-शील-संयमाः
श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम्।
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनी
निष्कांक्षितो नेति करोति कांक्षाम् ॥७४॥

अर्थात्—निःकांक्षित अंगका धारक सम्यग्दृष्टि इस प्रकारकी बांछा नहीं करता है कि मैंने जो शम, शील और संयमका अनुष्ठान किया है वह सब धर्माचरण मुझे उस मनोवांच्छित लक्ष्मीको प्रदान करे जो नाना प्रकारके सांसारिक सुखोंमें वृद्धि करनेके लिए समर्थ होती है—ऐसी बांछा करनेसे उसका सम्यक्त्व दूषित होता है।

इसी निःकांक्षित सम्यग्दृष्टिका स्वरूप श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने 'समयसार' में इस प्रकार दिया है—

जो ण करेदि दु कंखं कम्मफले तह य सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २४८ ॥

अर्थात्—जो धर्मकर्म करके उसके फलकी—इन्द्रिय-विषयसुखादिकी—इच्छा नहीं रखता है—यह नहीं चाहता है कि मेरे अमुक कर्मका मुझे अमुक लौकिक फल मिले—और न उस फल साधनकी दृष्टिसे नाना प्रकारके पुण्यरूप धर्मोंको ही इष्ट करता है—अपनाता है—और इस तरह निष्कामरूपसे धर्मसाधन करता है, उसे निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये।

यहां पर मैं इतना औरभी बतला देना चाहता हूं कि श्रीतत्त्वार्थसूत्रमें क्षमादि दश धर्मोंके साथमें 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दवादिरूपसे दश धर्मोंका निर्देश किया है। यह विशेषण क्यों लगाया गया है? इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' टीकामें लिखते हैं—

"दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम्।"

अर्थात्—लौकिक प्रयोजनोंको टालनेके लिए 'उत्तम' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

इससे यह विशेषणपद यहां 'सम्यक्' शब्दका प्रतिनिधि जान पड़ता है और उसकी उक्त व्याख्यासे स्पष्ट है कि किसी लौकिक प्रयोजनको लेकर कोई दुनियावी ग़रज़ साधनके लिये—यदि क्षमा-मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच, संयम-तप-त्याग-आकिंचन्य ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंमें से किसीभी धर्मका अनुष्ठान किया जाता है तो वह अनुष्ठान धर्मकी कोटिसे निकल जाता है—ऐसे सकाम धर्मसाधनको वास्तवमें धर्मसाधन ही नहीं कहते। धर्मसाधन तो स्वरूपसिद्धि अथवा आत्मविकास के लिये आत्मीय कर्त्तव्य समझ कर किया जाता है, और इसलिये वह निष्काम धर्मसाधन ही हो सकता है।

इस प्रकार सकाम धर्मसाधनके निषेधमें आगमका स्पष्ट विधान और पूज्य आचार्योंकी खुली आज्ञाएँ होते हुए भी खेद है कि हम आज-कल अधिकांशमें सकाम धर्मसाधनकी ओर ही प्रवृत्त हो रहे हैं। हमारी पूजा-भक्ति-उपासना,स्तुति-वन्दना-प्रार्थना, जप, तप, दान और संयमादिकका सारा लक्ष लौकिक फलोंकी प्राप्तिकी तरफ ही लगा रहता है—कोई उसे करके धन-धान्यकी वृद्धि चाहता है तो कोई पुत्रकी संप्राप्ति। कोई रोग दूर करनेकी इच्छा रखता है, तो कोई शरीरमें बल लाने की। कोई मुक़दमेमें विजयलाभके लिये उसका अनुष्ठान करता है, तो कोई अपने शत्रुको परास्त करनेके लिये। कोई उसके द्वारा किसी ऋद्धि-सिद्धिकी साधनामें व्यग्र है, तो कोई दूसरे लौकिक कार्योंको सफल बनानेकी धुनमें मस्त। कोई इस लोकके सुखको चाहता है, तो कोई परलोकमें स्वर्गादिकोंके सुखोंकी अभिलाषा रखता है। और कोई-कोई तो तृष्णाके वशीभूत होकर यहाँ तक अपना विवेक खो बैठता है कि श्रीवीतराग भगवानको भी रश्वत (घूस) देने लगता है—उनसे कहने लगता है कि हे भगवान्, आपकी कृपासे यदि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जायेगा तो मैं आपकी पूजा करूँगा, सिद्धचक्रका पाठ थापूँगा, छत्र-चँवरादि भेट करूँगा, रथ-यात्रा निकलवाऊँगा, गज-रथ चलवाऊँगा अथवा मन्दिर बनवा दूँगा!! ये सब धर्मकी विडम्बनाएँ हैं! इस प्रकारकी विडम्बनाओंसे अपनेको धर्मका कोई लाभ नहीं होता और न आत्म-विकास ही सध सकता है। जो मनुष्य धर्मकी रक्षा करता है—उसके विषयमें विशेष सावधानी रखता है—उसे विडम्बित या कलंकित नहीं होने देता, वही धर्मके वास्तविक फलको पाता है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' की नीतिके अनुसार रक्षा किया हुआ धर्म ही उसकी रक्षा करता है और उसके पूर्ण विकास को सिद्ध करता है।

ऐसी हालतमें सकाम धर्मसाधनको हटाने और धर्मकी विडम्बनाओंको मिटानेके लिये समाजमें पूर्ण आन्दोलन होने की ज़रूरत है। तभी समाज विकसित तथा धर्मके मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा, तभी उसकी धार्मिक पोल मिटेगी और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तभी वह अपने पूर्व गौरव-गरिमाको प्राप्त कर सकेगा। इसके लिये समाजके सदाचारनिष्ठ एवं धर्मपरायण विद्वानोंको आगे आना चाहिये और ऐसे दूषित धर्माचरणोंकी युक्ति-पुरस्सर खरी-खरी आलोचना करके समाजको सजग तथा सावधान करते हुए उसे उसकी भूलोंका परिज्ञान कराना चाहिये तथा भूलोंके सुधारका सातिशय प्रयत्न कराना चाहिये। यह इस समय उनका खास कर्त्तव्य है और बड़ा ही पुण्य-कार्य है। ऐसे आन्दोलन-द्वारा सन्मार्ग दिखलानेके लिये अनेकान्तका द्वार खुला हुआ है। वे इसका यथेष्ट उपयोग कर सकते हैं और उन्हें करना चाहिये। —जुगलकिशोर मुख्तार

---

# सखि ! पर्वराज पर्यूषण आये।

[ लेखक—मनु 'ज्ञानार्थी ]

मैं कबसे पथ देख रही थी;
भादोंकी रङ्गीन धरा पर;
भवके बन्धन ढीले करने,
पर्वराज प्रियतम पर्यूषण।
युगकी सोई साध जगाने आये। सखि ! पर्वराज········

गुरुतम क्षमा मार्दव आर्जव
सत्य शौच संयम आकिंचन
त्याग तपस्या ब्रह्मचर्यमय,
रत्न-दशकके ज्योति-पुंजसे,
गगन-अवनिका छोर मिलाने आये। सखि ! पर्वराज·····

अब देखूँ तो अन्तस्तल में;
परको छोड़ निहारूँ घर में;
स्वच्छ साफ है; पड़े नहीं हैं
काम क्रोध मायाके छींटे ?
पर; मैंने निज अन्तर-घट रीते पाये। सखि ! पर्वराज······

कैसे करूँ अतिथिका स्वागत,
स्वच्छ नहीं मेरा मानस-गृह ?
अर्घ चढ़ानेके पहले ही;
लौट न जायें मेरे प्रभुवर ?
जगकी अन्तर-ज्योति जगाने आये। सखि ! पर्वराज······

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

# सम्पादकीय

## १. दो नये पुरस्कारोंकी योजनाका नतीजा

गत वर्ष जुलाई मासकी किरण नं० २ में मैंने ४२५) के दो नये पुरस्कारोंकी योजना की थी, जिसमें से १२५) का एक पुरस्कार 'सर्वज्ञके संभाव्यरूप' नामक निबन्ध पर था और दूसरा ३००) रु० का पुरस्कार समन्तभद्रके 'विधेयं वार्यं वा' इत्यादि वाक्यकी ऐसी विशद व्याख्याके लिये था जिससे सारा 'तत्त्व-नय-विलास' सामने आजाय। निबन्धोंके लिए दिसम्बर तककी अवधि नियत की गई थी और बादको उसमें फर्वरी तक दो महीनेकी और भी वृद्धि कर दी गई थी। साथ ही कुछ खास विद्वानोंको मौखिक तथा पत्रों द्वारा निबन्ध लिखनेकी प्रेरणा भी की गई थी। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी खेदके साथ लिखना पड़ता है कि किसी भी विद्वान या विदुषी स्त्रीने निबन्ध लिखकर भेजनेकी कृपा नहीं की। पुरस्कारकी रकम कुछ कम नहीं थी और न यही कहा जा सकता है कि इन निबन्धोंके विषय उपयोगी नहीं थे; फिर भी विद्वानोंकी उनके विषयमें यह उपेक्षा बहुत ही अखरती है और इसलिए साहित्यिक विषयके पुरस्कारोंकी योजनाको आगे सरकानेके लिए कोई उत्साह नहीं मिल रहा है। अतः अब आगे कुछ ग्रन्थोंके अनुसन्धान के लिए पुरस्कारोंकी योजना की गई है। जिसकी विज्ञप्ति इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित है।

## २. डा० भायाणीने भूल स्वीकार की

अनेकान्तकी गत किरणमें 'डा० भायाणी एम० ए० की भारी भूल' इस शीर्षकके साथ एक नोट प्रकाशित किया गया था, जिसमें उनके द्वारा-सम्पादित स्वयम्भू देवके 'पउमचरिउ' की अंग्रेजी प्रस्तावनाके एक वाक्य Marudexi saw a series of fourteen dreams) पर आपत्ति करते हुए यह स्पष्ट करके बतलाया गया था कि मूल ग्रन्थ में मरुदेवीके चौदह स्वप्नोंका नहीं किन्तु सोलह स्वप्नोंको देखनेका उल्लेख है। साथ ही इस भूलको सुधारने की प्रेरणा भी की गई थी। इस पर डा० साहबने उदारता-पूर्वक अपनी भूल स्वीकार की है और लिखा है कि ग्रन्थके तीसरे खण्डमें गलतीका संशोधन कर दिया जायगा, यह प्रसन्नताकी बात है। इस विषय में उनके २६ जुलाईके पत्र के शब्द निम्न प्रकार हैं—

"आपकी टीका पढ़ी। fourteen dreams जो लिखा गया है वह मेरी स्पष्ट गलती है और इसलिए मैं विद्वानों तथा पाठकोंका क्षमाप्रार्थी हूँ। इससे आपको और अन्यको जो दुःख हुआ हो, उससे मुझे बहुत खेद है। 'पउमचरिउ' के तीसरे खण्डमें उसकी शुद्धि जरूर कर लूंगा।"

## ३—उत्तम ज्ञानदानके आयोजनका फल

दो-ढाई वर्षसे ऊपरका अर्सा हुआ जब एक उदार-हृदय धर्मबन्धुने, जिनका नाम अभी तक अज्ञात है और जिन्होंने अपना नाम प्रकट करना नहीं चाहा, सेठ मंगल जी छोटेलाल जी कोटावालोंकी मार्फत मेरे पास एक हजार रुपये भेजे थे और यह इच्छा व्यक्त की थी कि इन रुपयोंसे ज्ञानदानका आयोजन किया जाय अर्थात् जैन-अजैन विद्वानों, विदुषी स्त्रियों और उच्च शिक्षाप्राप्त विद्यार्थियों एवं साधारण विद्यार्थियोंको भी जैन धर्म-विषयक पुस्तकें वितरण कीजाएँ। साथ ही खास-खास यूनिवर्सिटियों, विद्यालयों कालिजों और लायब्रेरियोंको भी वे दी जाएँ। और सब आयोजनको, कुछ सामान्य सूचनाओंके साथ, मेरी इच्छा पर छोड़ा था। तदनुसार ही मैंने उस समय दातारजी की पुनः अनुमति मँगाकर एक विज्ञप्ति जैनसन्देश और जैनमित्रमें प्रकाशित की थी, जिसमें आप्तपरीक्षा, स्वयम्भूस्तोत्र, स्तुतिविद्या, युक्त्यनुशासन और अध्यात्मकमलमार्तण्ड आदि आठ ग्रन्थों-की सामान्य परिचयके साथ सूची देते हुए, जैन-जैनेत्तर विद्वानों, विदुषी स्त्रियों, विद्यार्थियों, यूनिवर्सिटियों, कालिजों विद्यालयों और विशाल लायब्रेरियोंको प्रेरणा की थी कि वे अपने लिए जिनग्रन्थों को भी मँगाना आवश्यक समझें उन्हें शीघ्र मँगालें। तदनुसार विद्वानों आदिके बहुत से पत्र उस समय प्राप्त हुए थे, जिनमेंसे अधिकांशको आठों ग्रन्थोंके पूरे सेट और बहुतोंको उनके पत्रानुसार अधूरे सेट भी भेजे गये। कितनोंने अधिक ग्रन्थोंकी इच्छा व्यक्त की परन्तु उन्हें जितने तथा जो ग्रन्थ अपनी निर्धारित नीतिके अनुसार भेजने उचित समझे गये वे ही भेजे गये, शेषके लिए इन्कार करना पड़ा। जैसे कुछ लोगोंने अपनी साधारण घरू पुस्तकालय के लिये सभी ग्रंथ चाहे जो उन्हें नहीं भेजे जा सके; फिर भी जिन लोगोंकी मांगें आईं उनमेंसे प्रायः सभीको कोई न कोई ग्रन्थ भेजे जरूर गये हैं। इसके सिवाय देश-विदेशके अनेक विद्वानों, यूनिवर्सिटियों, कालिजों तथा लायब्रेरियोंको अपना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पोस्टेज लगाकर भी ग्रन्थ भेजे गये हैं। और कुछको साक्षात् भेंट भी किए गये हैं। इस तरह उक्त दानकी रकमसे १३००) से ऊपरके मूल्य वाले ग्रन्थ वितरित हुए हैं, जिन्हें प्राप्त कर अनेक विद्वानोंने अपना आनन्द तथा आभार व्यक्त किया है।

वितरणका यह कार्य अर्सा हुआ समाप्त हो चुका है, फिर भी कुछ लोगोंकी मांगें आप्तपरीक्षादि जैसे ग्रन्थोंके लिये अभी तक भी आती रहती हैं जिन्हें पूरा करनेके लिये असमर्थता व्यक्त करनी पड़ती है। यदि कोई दूसरे दानी महानुभाव शास्त्रदान जैसे पुण्य-कार्योंके लिए दशलक्षण जैसे पावन पर्वमें कुछ द्रव्य निकालें तो उनकी ओरसे यह उत्तम ज्ञानदानके आयोजनका सिलसिला जारी रक्खा जा सकता है। आशा है उदार हृदय महानुभाव इस ओर भी ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

---

# वीरसेवामन्दिरको स्वीकृत सहायता

आचार्य श्रीनमिसागरजीजी की प्रेरणा आदिको पाकर वीरसेवामन्दिरको उसके साहित्यक तथा ऐतिहासिक कामोंके लिये जिन सज्जनोंने जो सहायता स्वीकृत की है उसकी सूची निम्न प्रकार है। इसमें से जो सहायता अब तक प्राप्त हो चुकी है उसकी सूची इसी किरण में अन्यत्र दी गई है :—

१५००) ला० मोतीलालजी, ६४ दरियागंज, देहली
१५००) डा. उत्तमचन्दजी, अम्बाला छावनी
१००१) अखिल भा० दि० जैन केन्द्रीय महासमिति धर्मपुरा देहली।
१००१) राय सा० ला० उल्फतरायजी, ७/३३ दरियागंज
१००१) ला० प्यारेलालजी जैन सर्राफ, सब्जी मण्डी,
१००१) ला० जुगमन्दरदास शीतलप्रसादजी मेरठ सदर
१००१) प्रं० राजेन्द्र कुमारजी
६०१) ला० आनन्दस्वरूपजी सुनपत वाले, देहली
५०१) ला० विमलप्रसादजी मा० ला० हरिश्चन्द्रजी,
५००) ला० सुकमालचन्द्रजी मेरठसिटी
२०१) ला० मनोहरलाल नन्हेंमलजी जैन, दरियागंज,
२०१) ला० खजानसिंह विमलप्रसादजी मंसूरपुर
२०१) ला० नेमिचन्दजी मंगलार
१७५) ला० नानकचन्दजी सोनीपत वाले, सैंट्रल बैंक,
१०१) धर्म पत्नी ला० सुमेरचन्दजी खजांची
१०१) ला० शिखरचन्दजी ३ दरियागंज, देहली
१०१) ला० रामप्रसादजी किराना मर्चेन्ट, देहली
१०१) ला० हरिश्चन्द्रजी देहली-शाहदरा
१०१) ला० होशयारसिंह शीतलप्रसादजी मंसूरपुर
१०१) ला० ज्योतिप्रसादजी टाइप वाले, मस्जिद खजूर
१०१) ला० रंगीलाल श्रीपालजी जैन, दरियागंज, देहली
१०१) श्रीमती कान्ता देवी, न्यू इण्डिया मोटर्स कम्पनी
१०१) श्रीमती स्यालकोट वाली बहिन ला० अमरनाथजी,
५१) लाला दीवानचन्दजी सुपुत्र लाला दीपचन्दजी झज्झर वाले
५१) ला० जयन्तीप्रसादजी
२५) ला० धूमसेन महावीरप्रसादजी कटरा सत्यनारायण
२५) ला० रामकरणदासजी, बहादुरगंजमण्डी
२५) ला० रघुवीरसिंहजी फर्म ला० केदारनाथ चन्द्रभानजी, बहादुरगंजमंडी
२५) श्रीमतीराजकलीदेवी अम्बहटा (सहारनपुर)
२५) ला० दातारामरायजी ७ दरियागंज देहली
२१) ला० विजयरत्नजी
११) ला० पन्नालालजी, २१ दरियागंज देहली
११) ला० माल्तीप्रसादजी मंसूरपुर
१०) अज्ञात् मा० ला० ज्योतीप्रसादजी टाइप वाले
५) श्रीमती तारादेवी
५) ला० शिखरचन्दजी सब्जी मण्डी

११५८४)

## वीर सेवामन्दिरको सहायता

गत वीरशासन जयन्ती और वीरसेवामन्दिरके नूतन-भवनके शिलान्यासके अवसर पर श्रीमान् रायबहादुर ला० दयाचन्द्र जीदरियागंज देहली ने वीरसेवामन्दिरको उसके साहित्यिक कार्योंके लिए ५००) रुपयेकी सहायताका वचन दिया है, जिसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं।

मैनेजर—वीरसेवामंदिर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

# साहित्य परिचय और समालोचन

**१. श्रीमहावीरस्तोत्रम्**—'चन्द्रदूत काव्य और विद्वत्प्रबोध शास्त्र एवं नरसुन्दरगणिकी अवचूरिसे अलंकृत) प्रकाशक, श्रीजिनदत्तसूरि-ज्ञान भंडार, सूरत। पृष्ठ संख्या ६४। मूल्य भेंट।

प्रस्तुत ग्रन्थमें खरतर गच्छीय अभयदेवसूरिके शिष्य जिनवल्लभसूरि द्वारा रचित 'महावीर स्तोत्र' ३० पद्यों में दिया हुआ है, और उस पर नरसुन्दरगणीकी अवचूरि भी साथमें दी हुई है।

महावीर स्तोत्र अच्छा भावपूर्ण स्तवन है। यह स्तवन विक्रमकी १२ वीं शताब्दी (सं० ११२५-११६७) की रचना है। अवचूरिको रचना कब हुई, यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। उक्त स्तोत्रके कर्ता जिनवल्लभ सूरिजी प्राकृत संस्कृत भाषाके अच्छे विद्वान थे। उन्होंने अनेक स्तोत्र-ग्रन्थोंकी रचना की है।

दूसरी रचना चन्द्रदूतकाव्य है जिसके कर्ता साधु सुन्दरके शिष्य विमलकीर्ति हैं। और 'विद्वत्प्रबोध शास्त्रके कर्ता वल्लभगणी हैं।

इस ग्रन्थकी प्रस्तावनाके लेखक मुनि मंगलसागर हैं। ग्रन्थकी छपाई सफाई अच्छी है। ग्रन्थका प्रकाशन बालाघाट वालोंकी ओरसे हुआ है, और वह प्रकाशन स्थानसे भेंट स्वरूप प्राप्त हो सकता है।

**२. बाहुबली और नेमिनाथ**—बाबू माईदयाल जैन सम्पादक, यशपाल जैन। प्रकाशक, मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री सस्तासाहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ संख्या ३२ मूल्य छः आना।

उक्त पुस्तक 'समाज-विकास माला' का १६ वां भाग है। इसमें बाहुबली और नेमिनाथके तप और त्यागकी कथा शिक्षाप्रद कहानीके रूपमें अंकित की गई है। पुस्तककी भाषा सरल है और उक्त महपुरुषों के जीवन परिचयको साररूपमें रखनेका प्रयत्न किया गया है। साथमें कुछ चित्रोंकी भी योजना की गई है जिससे पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गई है। पुस्तकमें दो एक खटकने योग्य भूलें रह गई हैं जैसे पोदनपुरको अयोध्याके पास बतलाना। जलयुद्धकी घटनामें विजयके कारणको स्पष्ट न करना और नेमिनाथके साधु होने पर उन्हें साधुके मामूली कपड़े पहने हुए बतलाना जब कि वे जिनकल्पी दिगम्बर साधु थे। यह सब होते हुए भी पुस्तक उपयोगी है, छपाई सफाई सुन्दर और गैट अप चित्राकर्षक है। सस्तासाहित्यमण्डलने इस पुस्तकको प्रकाशित कर असम्प्रदायक उदारताका जो परिचय दिया है वह सराहनीय है। आशा है भ वष्यमें अन्य भी शिक्षाप्रद जैन कथानकोंको मंडल द्वारा प्रकाशमें लाया जायगा।

**३ गृहस्थ धर्म**—लेखक स्व० ब्र० शीतलप्रसाद जी। प्रकाशक, मूलचन्द किसनदास जी कपड़िया, सूरत। पृष्ठ संख्या २७२, मूल्य सजिल्द प्रतिका ३) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम उसके विषयसे स्पष्ट है। इसमें गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त तक सभी आवश्यक क्रियाओंका स्वरूप और उनके करनेकी विधिका परिचय दिया हुआ है। यह ग्रन्थ ३१ अध्यायोंमें विभक्त है गृहस्थ धर्म तुलनात्मक अध्ययनको लिए हुये एक विचारपूर्ण पुस्तकके लिखे जानेकी आवश्यकता है। फिर भी वह पुस्तक उसकी आंशिक पूर्ति तो करती ही है। छपाई सफाई साधारण हैं।

**४. चारुदत्त चरित्र**—लेखक पं० परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ। प्रकाशक, मूलचन्द किसनदास कापड़िया सूरत। पृष्ठ संख्या १५६, मूल्य १॥)।

प्रस्तुत पुस्तकमें चम्पा नगरीके सेठ चारुदत्तका जीवन-परिचय दिया हुआ है। लेखकने उक्त चरित्र सिंघई भारामलके पद्यमय चारुदत्त चरित्र, जो संवत् १८१३ का रचा हुआ है, से लेकर लिखा है। जहाँ कोई बात विरुद्ध या असंगत जान पड़ी, उसके सम्बन्धमें फुटनोटमें खुलाशा करनेका यत्न भी किया गया है। चरित नायक किस तरह वेश्या बन्धनमें पड़ कर अपनी करोड़ोंकी सम्पत्ति दे डालता है, और अपने परिवारके साथ स्वयं भी अनन्त कष्टोंका सामना करता हुआ दुःखी होता है और विषयासक्तिके उस भयंकर परिणामका पात्र बनता है। परन्तु अन्तमें विवेकके जागृत होने पर किए हुए उन पापोंका प्रायश्चित करने तथा आत्म-शोधनके लिए मुनिव्रत धारण किया, और अपने व्रतोंको पूर्ण दृढ़ताके साथ पालन कर महर्द्धिक देव हुआ। पुस्तकके भाषा साहित्यको और प्रांजल बनानेकी आवश्यकता है, अस्तु पुस्तककी छपाई तथा सफाई साधारण है, प्रेस सम्बन्धी कुछ अशुद्धियाँ खटकने योग्य हैं। फिर भी प्रकाशक धन्यवादार्ह हैं।

परमानन्द जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

# वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी १७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नागर एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानों के लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द ( जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है ) १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति,आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ... ... ... ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... ... २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ।॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—( तीर्थपरिचय )—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ... ... ।॥)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ़ गम्भीर विषयको अवती सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—( प्रभाचन्द्रीय )—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेल्गोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर सचित्र रचना भारतीय पुरातत्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा०टी०एन० रामचन्द्रनकी महत्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत १)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Regd. No. D. 211

# अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

## संरक्षक

१५०० ) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी „
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू „
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी „
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन „
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी „
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी „
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी „
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल „
२५१) सेठ सुआलालजी जैन „
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी „
२५१) सेठ मांगीलालजी „
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन „
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

## सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी „
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, „
१०१) बा० काशीनाथजी, ... „
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी „
१०१) बा० धनंजयकुमारजी „
१०१) बा० जीतमलजी जैन „
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी „
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) रतनलालजी जैन कालका देहली
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक-रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org